दण्डिसूक्तिरत्नम्

डॉ. सञ्जय कुमार

1

दण्डसूक्तिरत्नम्

डॉ. सञ्जय कुमार

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली (भारत)

2

ISBN : 978-93-85981-42-5

प्रकाशक
सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस
एन–3/25, मोहन गार्डन,
उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059
दूरभाष : 011–25358642, 09968277749
E- mail : satyampub_2006@yahoo.com

मूल्य : 400/–
प्रथम संस्करण : 2016

भारत में प्रकाशित

आर.डी. पाण्डेय द्वारा **'सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस'** के लिए प्रकाशित।
कॉन्वेक्स पब्लिशिंग सोल्यूशन, नई दिल्ली द्वारा लेजर टाईपसेटिंग तथा विशाल कौशिक प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

3



निर्वाण तिथि 31 मार्च 2013
मानवीय मूल्यों की प्रतीक
सूक्तिबोध की प्रेरणास्रोत
पूजनीया पितामही स्वर्गीया
श्रीमती दुलेश्वरी सिंह यादव
की पुण्य स्मृति में

5

पुरोवाक्

संस्कृतगद्यकारों में दण्डी का विशिष्ट स्थान है। अपने गद्यबन्ध की अपूर्वता के कारण उन्हें कविपरम्परा में सर्वोच्च पद पर स्थापित किया गया है। कहा भी गया है–

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।।

अर्थात् संसार में वाल्मीकि के अवतरण होने पर ही कवि यह संज्ञा प्रचलन में आयी, व्यास के होने पर कवी (दो कवि) यह प्रयोग संभव हुआ तथा दण्डी के होने पर कवयः (तीन या अनेक कवि) यह प्रयोग संभव हो सका।

दण्डी के सम्बन्ध में कवि–परम्परा में किंवदन्ती है कि एक बार कवियों में विवाद हुआ कि उनमें कौन श्रेष्ठ है। दण्डी ने अपना निर्णायक भगवती को बनाया। भगवती के मंदिर में कवियों ने अपनी–अपनी रचना रख दी और मंदिर के कपाट बंद कर दिये गये। कुछ समय के पश्चात् मंदिर से यह स्वर गूँजा–"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः।"– अर्थात् कवि तो केवल दण्डी हैं– इसमें संदेह नहीं।

दण्डी की सूक्तियों में जीवनानुभवों का निचोड़ है। वे मर्म का स्पर्ष करती हैं, क्योंकि दण्डी ने वास्तविक जीवन और जगत् में संघर्ष और संकटों का सामना करते हुए विविध अनुभव प्राप्त किये। बाल्यकाल में ही इनके पिता की मृत्यु हो गयी, उसके साथ ही कांची पर शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया। अतः दण्डी को वहाँ से भागना पड़ा। बाण की भाँति ही विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए कुछ वर्ष पश्चात् वे पुनः कांची लौटे। यायावर जीवन के विभिन्न अनुभवों की छाया उनके साहित्य में है। दशकुमारचरित के सभी कुमार विविध देशों का भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं।

दशकुमारचरित के समान ही दण्डी की अवन्तिसुन्दरीकथा गद्यकाव्य की एक विलक्षण कृति है। अवन्तिसुन्दरीकथा का लक्ष्मीवर्णन बाण के शुकनासोपदेश में की गई लक्ष्मीनिन्दा के समान ही सूक्ति रूपी लक्ष्मी का भंडार है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

विदितमेव खलु वेदितव्यस्य यथेमाः प्रतिपदसुलभान्तराया दुर्योजन

साधनसमवायाश्च सम्पत्तयः। प्रार्थ्यमाना दुरवापा, समाराध्यमाना दुःखशीला, रक्ष्यमाणा प्रपलायिनी च लक्ष्मीः। प्रत्यक्षमेव चास्याश्चापलम्। एषा खलु देवस्य पितृपैतामहसंवर्धितापि रिपुषड्वर्गसम्बाधमुक्तचित्तेन सुचिरलालितापि प्रवीरकरदण्डमण्डलीकृतप्रचण्डचाप–चक्रटङ्कार मुखरितेषु समरेषु शरीरं जीवितमनपेक्ष्य रक्षितापि, यथेष्टलाभसंवर्धिता तुष्टद्विजवराशीर्वादनन्दितापि नित्याराधनप्रसन्नकुलदेवताधिष्ठानापि नित्योद्युक्तविद्याधर–समाजाजस्त्रग्राह्यमाणाविनयापि चतुरुदधिवलयमध्य–वर्तिसकलनरपति– कुलविरचिताञ्जलि–कमलवनविहारमानितमनोरथापि, स्वभावदोषेण दुर्मतिरपरिचिता जीवत्येव तस्मिन्नरिजीवित लोहखड्गजिह्वेमहाहिभोगभीषणेसङ्ग्रामे तस्यामिन्दुकरदलित कुमुदकुड्मलोदरदलावदातायाम्। अपि चेयं पतङ्गरथमयीव भुजङ्गभोगिनी मुहूर्तमप्यविश्रम्य परिभ्रमति। उपनतापि दैवादुरसि प्रमदमुर्च्छितेव हठान्निष्पति।

दण्डी की सूक्तियों के मनन से हम अनुभव करते हैं कि वे जीवनानुभूत सत्य को मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति देते हैं। इसके साथ उनकी सूक्तियाँ जीवन में उद्यम व पौरुष का आह्वान भी करती हैं। दरिद्रता के विषय में कितना सटीक कथन है–अवज्ञासोदर्यं दारिद्यद्रयम्। दण्डी जी मनुष्यसमाज से दरिद्रता दूर कर उसे भौतिक दृष्टि से सम्पन्न बनाना चाहते हैं। इसी लिये उन्होने यह भी कहा है–'अर्थो हि नाम महात्मनामनुच्छिन्नसन्ततिर्यशः प्रवाहः; अर्थमूला हि दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः।' दण्डी के कथनों में यह प्रत्यय होता है कि जीवन कितनी अनमोल निधि है–'जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि।' उनकी सूक्तियों में व्यावहारिकता तथा वास्तविकता देखी जा सकती है। केवल पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता बताते हुए वे कहते हैं पढ़े लिखे लोग अनपढ़ लोगों के द्वारा मूर्ख बना दिये जाते हैं– 'पठन्तश्चापठद्भिरतिसंधीयमाना बहवः।'

प्रस्तुत ग्रंथ में दण्डी की सूक्तियों का सर्वांगीण विवेचन किया गया है। दण्डी की एक एक सूक्ति की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए तत्समकक्ष अन्य रचनाकारों के उत्तम वचनों के तारतम्य में उसके वैशिष्ट्य का उद्घाटन ग्रंथकार ने किया है। मुझे आशा है कि सूक्तिसाहित्य के जिज्ञासुओं तथा संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिये यह समान रूप से उपकारक होगा।

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी
पूर्व कुलपति,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जनकपुरी, नई दिल्ली

शुभाशंसा

संस्कृत साहित्य में अपने 'पदलालित्य' के लिए सुविख्यात महाकवि दण्डी की रचनाओं में सूक्तियों का भाव–सौन्दर्य भी दर्शनीय है। 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' दण्डी की अत्यन्त लोकप्रिय गद्यकाव्य कृतियाँ हैं। इनमें वर्णित कथाएँ भारतीय जनमानस को रस, भाव और ज्ञान से विभोर करने वाली, अद्भुत प्रेरणादायक और सामाजिक अर्थवत्ता की दृष्टि से विशिष्ट हैं। दण्डी आचार्य कवि भी हैं। उनके आचार्यत्व का निकष है–'काव्यादर्श', जिसमें कविता के शास्त्रीय प्रतिमानों का प्रतिष्ठापन हुआ है। कवित्व और आचार्यत्व दोनों ही स्तरों पर महाकवि दण्डी के सामाजिक और काव्यशास्त्रीय चिन्तन से संस्कृत साहित्य जगत् सुपरिचित है।

दण्डी के साहित्य में प्राप्त सूक्तियों को विषयानुसार तीन रूपों में विभक्त किया गया है–धर्मशस्त्रीयसूक्तियाँ–22, समाजशस्त्रीयसूक्तियाँ–32 और काव्यशास्त्रीयसूक्तियाँ–16। इस प्रकार कुल 70 सूक्तियों की व्याख्या की गई है। उक्त तीनों प्रकार की सूक्तियों के स्वरूप पर भी विचार महत्त्वपूर्ण है। दण्डी की सूक्तियाँ उनके व्यापक जीवनानुभवों और सामाजिक, धार्मिक और काव्यशास्त्रीय चिन्तन की देन हैं। इनमें तत्कालीन समय और समाज का यथार्थ उद्घाटित हुआ है। ये सूक्तियाँ मानवीय चेतना के विकास के लिए अभिमन्त्र हैं। ज्यादा खटकने वाली बात यह है कि दण्डी अपने युग (सातवीं शताब्दी) के स्त्रीविषयक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण का प्रतिकार नहीं कर पाये हैं और अपनी अनेक सूक्तियों में उन्होंने पुरुषवादी मानसिकता को अभिव्यक्त किया है। आज इक्कीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में जब हाशिये के समाज और स्त्री की अस्मिता उसकी संघर्षशीलता तथा सार्थक पहचान के लिए साहित्य, समाज व राजनीति में विचार विमर्श हो रहा है। प्रतिरोध का तीव्र स्वर हमारी सामाजिक व सांस्कृतिक सोच के बदलाव का मार्ग प्रशस्त कर चुका है तब ऐसे समय में दण्डी की संवेदनहीनता ही

रेखांकित होगी कि उन्होंने अपने युग की वैचारिक सीमाओं को अतिक्रमित करने की सामर्थ्य क्योंकर नहीं जुटाई ? यहाँ यह तर्क भी नहीं ठहरता है कि दण्डी की स्त्री विषयक सोच तद्युगीन सामंती समाज व्यवस्था की असलियत का खुला बयान है। पति–पत्नी का सम्बन्ध, सन्तानोत्पत्ति, स्त्रीराग, परपतिगमन, स्त्री चरित्र आदि अनेक प्रश्नों पर दण्डी के विचार पुरुषवादी मानसिकता के पोषक हैं। स्त्री का यह धर्म है कि पति चाहे भला हो चाहे दुष्ट, उसी के रास्ते का अनुसरण करे। आज की स्त्री के लिए इस विचार को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता सुन्दर स्त्री किस पुरुष के चित्त को कामातुर नहीं बना देती–''कस्य कामातुरं चेतो वारूणी न करिष्यति।'' चाहने वाली स्त्री को कौन प्राणी नहीं अपनाता है–''कः सचेतनः स्त्रियमभिकामयमानां नाभिनन्दति।'' निश्चय ही पति का विमुख (दुर्भाग्य) होना नारियों की जीते जी मौत है–''दौर्भाग्यं नाम जीवन्मरणमेवागनानाम्''। पति ही स्त्रियों का देवता होता है–''पतिरेव दैवतं वनिताम्।'' स्त्री का हृदय क्रूर होता है–''स्त्री हृदयं क्रूरम्''। स्त्रियाँ तिकड़म की खान होती हैं–''स्त्रियश्चोपधीनामद्भवक्षेत्रम्'' आदि कथन स्त्री के प्रति परम्परावादी दृष्टिकोण का द्योतक है। वस्तुतः सातवीं शताब्दी के समाज में स्त्री के प्रति यही मान्यता थी। कदाचित् इसीलिए दण्डी स्त्री के प्रति सामाजिक न्याय नहीं कर पाये हैं। दण्डी की सूक्तियाँ तत्कालीन धार्मिक व सामाजिक चेतना और काव्यशास्त्र की वृहद्परम्परा की अनुगामिनी हैं। इसमें मानवीयता का स्वर मुखरित हुआ है दण्डी लोक कल्याण की भूमिका रचते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने यश, राजनीति, समाज, क्षात्र धर्म, दैवगति, ईश्वरीय शक्ति, धर्म की महिमा, बुद्धिहीन राजा आदि अनेक विषयों पर अत्यन्त प्रासंगिक रूप से विचार किया है।

दण्डी शास्त्रानुमोदित जीवन पद्धति के पक्षधर हैं। वे कहते है–शास्त्ररूपी दीपक से देखे गये रास्ते से चलकर ही लोक स्थिति सुख पूर्वक रह सकती है। उनकी भाग्यवादी सोच पर हमें एतराज है क्योंकि कर्म की अपेक्षा विधाता के लेख (भाग्य) को अधिक महत्त्व दिया गया है। समाजशास्त्री सूक्तियों में पुरुषार्थ, विद्याभ्यास, गुरूपदेश, बुद्धिमत्ता आदि का महत्त्व स्थापन के साथ ही चरित्रहीनता, दरिद्रता, अविश्वास, विपत्ति आदि पर उनके विचार तद्युगीन सामाजिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उजागर

हुए हैं। उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं जो आज के युग में समाज के लिए प्रासंगिक व प्रेरणादायक है। यथा–सभी कार्य धन से सिद्ध होते हैं–"अखिलकार्य निमित्तं वित्तं निश्चित्य।" विद्याओं का अभ्यास न करने से बुद्धिमानों के असंसर्ग से एवं इन्द्रिय सयंम के अभाव में दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है–

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम्।
अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम्।।

अज्ञानी लोग जीवनभर धन कमाते–कमाते समाप्त हो जाते है–"अपण्डिताः पुनरर्जयन्त एव ध्वंसन्ते।" समय पर किया गया कार्य ही पुरस्कृत होता है–"अवसरेषु पुष्कलः पुरुषकारः" बुद्धि द्वारा दुष्कर कार्य सिद्ध किया जाता है–"दुष्करसाधनं प्रज्ञा" इत्यादि। वैश्विक सन्दर्भ में कवि दण्डी का यह चिन्तन कितना प्रासंगिक है–यह अपना देश है यह परदेष है ऐसा विचार चतुर लोग नहीं करते हैं–"स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य।" दण्डी काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य हैं। काव्य के विविध पक्षों पर उनके विचार भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के संवाहक है। शब्द की महत्ता पर वे व्यापक संदर्भ में विचार करते हैं कि यदि शब्द रूपी ज्योति समस्त संसार में प्रदीप्त न हो तो यह सम्पूर्ण त्रिभुवन अज्ञान के सघन अन्धकार में लीन हो जाय। इस शब्द ज्योति से ही सम्पूर्ण लोक प्रकाशित है। इसके बिना सम्पूर्ण लोक अंधकारमय है–

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

इसी तरह जन्मजात प्रतिभा के सम्बन्ध में दण्डी का विचार है कि जन्म–जात प्रतिभा, विशाल एवं परिशुद्ध अध्ययन और प्रगाढ़ अभ्यास समुदित रूप में काव्य सम्पत्ति के कारण होते हैं–

"नैसर्गिकी च प्रतिभाश्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः।।"

अस्तु 'दण्डिसूक्तिरत्नम्' पुस्तक का प्रकाशन नयी सदी के व्यक्ति के लिए प्रेरणास्रोत है, मार्गदर्शिका है, विचारों के वह अग्निकण है जिसे जीवन में प्रज्ज्वलित कर हम स्वयं का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज को

एक सकारात्मक एवं व्यावहारिक ज्ञान पथ दिखा सकते है।

हर्ष का विषय है कि संस्कृत साहित्य की नवनवोन्मेषशालिनी दृष्टि से सम्पन्न युवा आलोचक डॉ. सज्जय कुमार ने दण्डी साहित्य के गहन अध्ययनोपरान्त यत्र–तत्र बिखरी हुई काव्य सूक्तियों को विषयानुसार एवं व्यवस्थित क्रम में "दण्डिसूक्तिरत्नम्" पुस्तक में एकत्रित किया है। उन्होंने न केवल दण्डी की सूक्तियों के अर्थ का निर्वचन किया है अपितु उन सूक्तियों से संदर्भित संस्कृत के अन्य ग्रन्थों से भी सूक्तियों, श्लोकों व गद्य काव्यपंक्तियों को अर्थ, विचार एवं भावसाम्य की दृष्टि से उद्धृत कर दण्डी की सूक्तियों में निहितार्थ की व्यापक संदर्भ में तात्त्विक एवं सारगर्भित व्याख्या की है। प्रारम्भ में 'दण्डिसूक्तिरत्म्' की अपनी भूमिका में डॉ. सज्जय कुमार ने संस्कृत वाङ्मय में सूक्ति की अवधारणा और स्वरूप का निदर्शन कर उसके गूढार्थ की परख पर भी दृष्टिपात कर अपनी आलोचकीय दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन से हमें प्रभावित किया है। इस पुस्तक में पदे–पदे सूक्ति व्याख्याकार की मौलिक प्रतिभा भी झलक उठी है।

डॉ सज्जय कुमार बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने दण्डी की सूक्तियों का संकलन एवं व्याख्या कर संस्कृत साहित्य में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। विश्वास है कि इस पुस्तक का सुधी सहृदयजन तहेदिल से स्वागत करेंगे और जीवन में उन विचारों की चरितार्थता सिद्ध करेंगे।

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
एवं
अधिष्ठाता भाषा अध्ययनशाला
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भूमिका

सूक्ति, सु–उक्ति–सुन्दर या सौष्ठवपूर्ण कथन का नाम है। सामान्य लोकवाणी से विचित्र ऐसी उक्ति जो सद्यःहृदय में घनीभूत होकर प्रस्फुटित होती है और एक गहरे अर्थ को व्यक्त करने लगती है तो वह सूक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसमें शाश्वत सत्य, उद्‌बुद्ध चिन्तन–मनन की ज्योति अन्तर्निहित रहती है, जिससे हम अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर जीवन को सार्थक एवं सफल बना सकते हैं। इसकी संरचना के विषय में डॉ. जयशंकर त्रिपाठी का मानना है कि, **''सामान्य लोकवाणी से विचित्र प्रभावकारी कथन को आरम्भ में सूक्ति कहा गया होगा लेकिन इस सूक्ति शब्द का बोध आगे चलकर कवि वाणी के पर्याय रूप में होने लगा।''**[1] इस प्रकार कवि की कविता सूक्ति है और सूक्ति ही काव्य है। कहने का भाव यह है कि आचार्यों द्वारा अभिलषित अर्थ से युक्त पदावली को काव्य शरीर कहा गया है। वह सूक्ति ही है जो अपने अर्थ से सहृदय को चमत्कृत कर देती है। यही तो 'ह्लादैकमयत्त्व' अर्थात् आनन्द मात्र स्वभावत्त्व है, इसी की संज्ञा ब्रह्मानन्द सहोदर है। इसलिए काव्य में सूक्तियाँ न हों तो साहित्य का आनन्द मन्द पड़ जाता है। इसकी महनीयता के कारण ही कवि बिल्हण इसे कर्णामृत मानते हैं–

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव।।[2]

कानों के लिए अमृततुल्य सुभाषित रस को छोड़कर दुर्जनों का प्रयास दोष को ढूँढने में ही होता है, ऊँट केलिवन में प्रवेश कर भी शमी, बबूल आदि कण्टक–समूह को ही खोजता है। सूक्ति कर्णप्रिय होती है। शब्द का अमृत रूप में प्रयोग ही सूक्ति है। अमृत हमारे जीवन को सचेतन बनाता है, और सूक्ति हमारे अमन्द जीवन को आनन्दमय बना देती है।

1 त्रिपाठी जयशंकर, दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, पृ. 66

2 विक्रमाङ्कदेवचरित, 7/29

इसलिए जो कवि अपने काव्य में जितना अधिक सूक्ति का प्रयोग करता है वह उतना ही अधिक सरस्वती–सपर्या का अधिकारी बनता है। 'राजशेखर' ने सूक्ति के सन्दर्भ में सरस्वती को साक्षात् सूक्तिधेनु कहा है–

या दुग्धाऽपि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती।।[3]

कवियों की सरस्वती सूक्ति धेनु है। कविजन सरस्वती रूपी धेनु से सूक्ति दुहा करते हैं। इस प्रकार सूक्ति सरस्वती का एक परिणाम है। आचार्य दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत में सूक्ति और उसके काव्य की महत्ता स्वीकार करते हुए 'काव्यादर्श' में लिखा है–

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।।[4]

महाराष्ट्र में प्रयुक्त महाराष्ट्री भाषा को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत मानते हैं। इस भाषा में रचित सेतुबन्ध आदि काव्य सूक्ति रूपी रत्नों के समुद्र हैं। दण्डी ने यहाँ प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' काव्य को सूक्तिरत्नों का सागर कहा है, जो सिद्ध करता है कि यह महाकाव्य मर्मस्पर्शी सूक्तियों पर आधारित है। सूक्तियाँ वाणी की रत्न हैं और शब्दों का चमत्कार हैं। सेतुबन्ध ऐसे ही सूक्ति रत्नों का प्रबन्ध है जो सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फलतः सूक्ति–महात्म्य से आह्लादित आचार्य वर्ग इसे सुभाषित संज्ञा से भी विभूषित करते रहे हैं। आचार्य मनु लिखते हैं–

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्[5]

विष से अमृत को लेना चाहिए और बालक से भी सुभाषित को ग्रहण कर लेना चाहिए। आचार्य जी का संकेत सूक्ति की महत्ता की ओर है, उनका मानना है कि सुभाषित जहाँ कहीं से भी मिल जाय उसे निश्चित रूप से ग्रहण कर ही लेना चाहिए, क्योंकि सूक्तियों में शिक्षा एवं सदुपदेश की जितनी अमोघ शक्ति रहती है, उतनी ही आत्ममंथन एवं अनुभूतियों को झंकृत करने की भी क्षमता होती है। सद्ग्रन्थों के सैकड़ों पृष्ठ अथवा किसी सदुपदेशक के घण्टे– दो घण्टे के मनोहर व्याख्यान

3 काव्यमीमांसा, अध्याय 3

4 काव्यादर्श, 1/34

5 मनुस्मृति, 2/239

भी उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना गम्भीर प्रभाव एक सूक्ति का हमारे हृदय पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि सूक्तियों का प्रभाव सीधे हमारे अन्तस पर पड़ता है। कर्णकुहरों में पड़ते ही ये विद्युत तरंगों की भांति समूचे शरीर की अन्तरात्मा को झंकृत कर देती है, मानस की गहराई में व्याप्त आनन्द तरंगित हो उठता है और मन क्रियाशील हो जाता है। इसीलिए मनु महाराज अन्य बहुमूल्य पदार्थों के समान सुभाषित को भी संग्रहित करने का उपदेश देते हैं–

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ।।[6]

स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, (पवित्रता) सुभाषित और विभिन्न शिल्पों को भी सभी ओर से संग्रहीत करना चाहिए। इन बहुमूल्य पदार्थों में सुभाषितों का अत्यधिक महत्त्व है इसीलिए आचार्य ने इनके साथ सूक्तियों के संदर्भ में सुभाषित का भी परिगणन किया है। ये साहित्यगगन में दैदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र के समान हैं। इनकी आभा देश–काल की सीमा से सर्वदा परे होती है। मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों ने उसे अमरता का वरदान दिया है और करोड़ों कण्ठों को धन्य करने के कारण इनमें माधुर्य और कोमलता का सन्निवेश हुआ है। इन सूक्तियों के कारण ही काव्य में वाणी चमत्कृत होती है, इनकी काव्य में उपस्थिति न रहे तो वक्तृता की कला निष्फल हो जाती है। सूक्ति को सुभाषित रूप में आचार्य राजशेखर भी प्रयुक्त करते हैं–

अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपालमामनन्ति।
तत्र पलालधूननेन अन्नकणलाभवत्सुभाषितलाभः ।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूक्ति का महात्म्य अत्यन्त व्यापक है। यह कवि–मनीषी के कण्ठ से निःसृत होकर वैदिक युग से अपने महत्त्व में वृद्धि करती हुई आज भी लोक कण्ठ को विभूषित कर रही है। जहाँ कवि है वहाँ सूक्ति भी निश्चित रूप से होती है, क्योंकि सूक्ति ही काव्य का परिपाक है। वेद को काव्य और ब्रह्मा को कवि कहा जाता है–

---

6 मनुस्मृति, 2/240
7 काव्यमीमांसा, पृ. 52

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीयर्ति।[8]

इसलिए वैदिक संहिताओं में भी सूक्ति प्राप्त होती है–

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।[9]

विद्वान् आकाश में निवद्ध दृष्टि की भांति विष्णु के उस परम् पद को सदा देखते हैं।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।[10]

सूर्य जङ्गम और स्थावर की आत्मा है।

"माता पृथिवी महीयम्"।[11]

यह बड़ी पृथ्वी हमारी माता है।

ईशावास्यमिदं सर्वम्[12]

यह सम्पूर्ण जगत ईश्वर से अभिव्याप्त है।

सत्यमेव जयते नानृतम्।[13]

सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं।

भूत्यै जागरणमश्र्। अभूत्यै स्वपनम्।[14]

जागना वैभव के लिए। सोना पतन के लिए।

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु।[15]

समाज में निन्दित लोग निन्दित हो।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्।[16]

उठो, जागो, श्रेष्ठ लोगों के समीप जाकर समझो।

---

8 अथर्ववेद, 18/8/32
9 ऋग्वेद 1/22/20
10 ऋग्वेद, 1/115/1
11 वही, 1/164/33
12 शुक्लयजुर्वेद, 40/1
13 मुण्डकोपनिष्द्, 3/9/5
14 यजुर्वेद, 30/17
15 ऋग्वेद, 5/2/6
16 कठोपनिषद्, 1/3/14

इन सूक्त्यात्मक मन्त्रों से यह सुनिश्चित होता है कि सूक्ति की परम्परा वैदिक युग से ही लोगों के कण्ठ को सुकण्ठ बनाती हुई कविता कामिनी को आकर्षित किये हुए है। वस्तुतः सूक्ति का आविर्भाव मनुष्य की वाणी की साथ ही हुआ है, क्योंकि मनुष्य जब भी कोई सारगर्भित हृदय को छू लेने वाली वाक्यवली का व्यवहार करता है, तो वह सूक्ति का रूप ग्रहण कर ही लेती है। वह वाग्व्यवहार का अपने सामान्य दिनचर्या में प्रयोग करता हुआ इसके घनीभूत सम्वेदना से सबको रञ्जित करता है। क्रमशः यही वाग् व्यवहार धीरे–धीरे साहित्य जगत् में भी आ गया और सूक्ति या सुभाषित नाम को धारण कर लिया। यहाँ एक तथ्य ध्यातव्य है कि जो लोक होता है वही शास्त्र बनता है। लोक में सूक्ति के चुटीले अर्थ गाम्भीर्य से भावित होकर कविवर्ग उसे अपनी रचनाओं में सृजित करने लगे इस प्रकार इसे साहित्य परम्परा में विशिष्ट स्थान मिला। यह सूक्त्यात्मक कथन सामान्य नहीं बल्कि विशेष अभिप्राय के रूप में प्रकाशित होते हैं, जो विशेष कवि की वाणी में ही प्रस्फुटित होते हैं। कहने का भाव यह है कि प्रतिभा सम्पन्न कवि विशेष की वाणी में ही ऐसी सूक्तियों का जन्म होता है। जिससे कवियों की वाणी में उनकी प्रतिभा वैशिष्टय का परिचय मिलता है। आचार्य आनन्दवर्धन लिखते हैं–

सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।[17]

उस आस्वादमय रसभावरूप अर्थतत्त्व को (सूक्ति तत्त्व को) प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनके अलौकिक प्रतिभासमान प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है। तात्पर्य यह है कि यह सूक्ति ही सूक्तिकार के प्रतिभा वैशिष्ट्य को प्रकट करती है और यह प्रतिभा ही कवित्त्व का निकष है, जिसके बिना कोई भी काव्य की रचना नहीं कर सकता है। इसीलिए तो आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के वृत्तिभाग में लिखते हैं–

"शक्तिः कवित्त्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्"[18]

---

17 ध्वन्यालोक, 4/6

18 काव्यप्रकाश, 1/3 वृत्ति

कवित्त्व का बीजभूत संस्कार विशेष प्रतिभा (शक्ति) है जिसके बिना कांव्य प्रस्फुटित ही नहीं होता है अथवा तुकबन्दी से प्रस्फुटित होने पर भी उपहास के योग्य हो जाता है। इसी प्रकार यह सूक्ति भी प्रतिभा सम्पन्न कवि के हृदय में ही उत्पन्न होती है और अपनी सरसता से सहृदय को चमत्कृत कर देती है। उसकी गम्भीरता को परखकर वह वाह–वाह करने लगता है। काव्य का रस तो चित्त के पान के लिए होता है लेकिन काव्य की परीक्षा तो सूक्तियों के भावों, विचारों और भंगिमाओं की कसौटी पर ही अवलम्बित होती है। इसीलिए महाकवि बिल्हण लिखते हैं–

कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु।।
उल्लेखलीला–घटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम्।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु।।[19]

जो उत्तम कवियों की रचनाओं में अनुरक्त हो चुके हैं। वे सामान्य कवियों की रचनाओं में अनुरक्त नहीं होते, क्योंकि गठिवन (एक प्रकार की सुगन्धित झाड़ी) से परिचित हैं कस्तूरीमृग घास नहीं चरते हैं। मेरे सुन्दर उक्तिरूपरत्न काव्य वर्णन के विलास में निपुण मणिकारों के समान सहृदय विद्वानों के कसौटी पत्थर के फलक पर अतिथि होवें। महाकवि बिल्हण ने अपनी कविता में रस और सूक्ति दोनों की समान स्थिति का अलग–अलग उल्लेख करते हुए भी विदग्धजनों की विचारसरिणि पट्टिका की कसौटी के लिए सूक्ति रत्नों को प्रस्तुत किया हैं। उनका यह कथन कविदण्डी के 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' की भी याद दिलाता है। यही नहीं कानों को अमृत की तरह तृप्त कर देने वाली सूक्ति ही रस है, कहकर कवि बिल्हण ने सूक्ति को बहुत ऊँचाई प्रदान की हैं। इस प्रकार वे काव्यशास्त्र के आचार्यों की उपेक्षा करके कवि जगत् में सूक्तियों की तात्कालिक व्याप्त मान्यता की ओर संकेत भी करता हैं। सूक्ति की महत्ता का जो निर्देश राजशेखर अपने ग्रन्थ काव्यमीमांसा में करते हैं वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है–

कस्त्वं भोः कविरस्मि काव्यभिनवा सूक्तिः सखे! पठ्यतां त्यक्त्वा काव्य–कथैव सम्प्रति मयाकस्मादिदं श्रूयताम। यः

---

19 विक्रमाङ्कदैवचरित्, 1/17, 19

सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्देवान्न निर्मत्सरः।।[20]

भाई! आप कौन है? कवि हूँ बन्धु! तो मित्र! कोई अभिनव सूक्ति सुनाइए। इस समय तो मैंने काव्य की चर्चा छोड़ दी है, यह क्यों? सुनिये तो इस युग में कविता के दोष–गुण के तत्त्वों को भली–भाँति कह सके और स्वयं सत्कवि हो ऐसा भावक (आलोचक) ही नहीं है। यदि संयोग से कोई है भी तो वह मात्सर्य से रहित नहीं है।

यहाँ बहुत स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि कवि से उसका काव्य सुनना ही प्राश्निक को इष्ट है पर वह पढ़ने का आग्रह करता है। इसीलिए काव्य श्रमज्ञ आलोचक के सूक्तियों से आह्लादित होने की बात कही गयी है–

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।।[21]

शब्दों की गुम्फन विधि, विवेचन करने वाले काव्य सूक्तियों से प्रसन्न होने वाले काव्य के रसामृत का पान करने वाले, काव्यगत वैशिष्ट्य के गम्भीर तत्त्वों का विवेचन करने वाले तथा सुधीजनों के द्वारा काव्य निर्माण में कृत परिश्रम का मूल्यांकन करने वाले समालोचक की प्राप्ति बुद्धिमान व्यक्ति को महान् पुण्यों के द्वारा ही होती है। इस प्रकार के समालोचक के अभाव में कवि मन में ही दुःखी रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि, सूक्ति से सहृदय आह्लादित होता है। उसका यह आह्लाद लोकोत्तर हुआ करता है। सूक्ति और काव्य को पर्याय शब्द मानते हुए डॉ. जयशंकर त्रिपाठी कहते हैं– सूक्ति और काव्य परस्पर पर्याय हैं अथवा काव्य की परिभाषा सूक्ति है। यहां इस स्थल पर सूक्ति का प्रयोग 'भल्लाः प्रविशन्ति' की तरह लक्षणापरक भी मानी जा सकती है।"[22] इसलिए यह कहा जा सकता है कि सूक्तियों का रचना

---

20 काव्यमीमांसा, पृ. 34

21 वही, पृ. 34

22 त्रिपाठी, डॉ. जयशंकर, दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, पृ. 69

संसार बहुत व्यापक है। वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत तथा धर्मशास्त्र सब सूक्तियों से भरे पड़े हैं, जो जीवन के बहुमूल्य सिद्धांत के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें युगों–युगों की मानव चेतना तथा अनुभूतियाँ ही नहीं है बल्कि तर्क, युक्तियाँ, निर्देश, और इन सबसे बढ़कर काव्यानन्द की सहज अभिव्यक्ति है जो मानव की लोकोत्तरता में प्राण भर देता है।

काव्य में सूक्तियों का कर्णामृत रस के काव्यानन्द से भिन्न, एक अलग ही आकर्षण था। प्रतिभावान कवि अपनी भंगिभणिति और सूक्ति रस के निबन्धन में एकाग्र होकर काव्यरस के औचित्य–अनौचित्य की चिन्ता नहीं करते थे। ऐसे कवियों के विषय में आनन्दवर्धन लिखते हैं–

"स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यत। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्ति सहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्"[23]

वह रूपकादि अलङ्कार वर्ग इस प्रकार उपनिबद्ध अलंकार कवियों के रस को अभिव्यक्त करने का हेतु होता है। उक्त पद्धति का उल्लङ्घन करने से तो अवश्य ही रस भङ्ग का हेतु बन जाता है। इस प्रकार बहुत से उदाहरण महाकवियों के प्रबन्धों में भी पाये जाते हैं। परन्तु सहस्रों सूक्तियों की रचना द्वारा लब्धप्रतिष्ठ उन महात्माओं के दोषों का उद्घाटन करना अपने ही लिए दोष जनक होता है, इसलिए उन महाकवियों के दोषयुक्त उदाहरण को अलग से नहीं दिखाया गया है। यहाँ 'आनन्दवर्धन' ने 'सूक्ति सहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां' कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है कि कवि अपनी अनोखी सूक्तियों से विदग्ध–गोष्ठियों में और पुनः लोक में चमत्कृत हो जाते थे। इस प्रकार यह निश्चित है कि ध्वनि और रस की भाँति कभी सूक्ति भी काव्य की कसौटी मानी जाती थी। इसी प्रकार आचार्य कुन्तक भी सूक्ति महात्म्य के विषय में लिखते हैं–

वन्दे कवीन्द्रवक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्।।[24]

---

23 ध्वन्यालोक, 2/19, वृत्तीभाग

24 वक्रोक्तिजीवितम्, 1/1

कवि प्रवरों के मुखचन्दरूपी नृत्यभवन में नृत्य करने वाली सूक्ति के विलासरूपी सुन्दर अभिनयों के कारण उज्ज्वल सुशोभित देवी (वाग्देवता) की स्तुति करता हूँ। यहाँ आचार्य ने सूक्ति के विलास रूपी सुन्दर अभिनय शब्द का प्रयोग करके सूक्ति की रमणीयता की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

इन्हीं सूक्ति महनीयता के कारण कवि दण्डी अपने 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के साथ–साथ 'काव्यादर्श 'में भी सूक्ति–सरिता को प्रवाहित किये हैं। जहाँ तक गद्य काव्य में सूक्ति का प्रश्न है तो वह **'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'**[25] के परिसीमा में आती है। सूक्ति ही गद्य काव्य के अनुशासन को चमत्कृत करती हुई उसके भाव प्रकाशन को और अधिक सहज बना देती है। जिससे पाठक साहित्य सरिता की तरङ्गों से केवल आनन्दित ही नहीं होता बल्कि उसमें डुबकी लगाकर भावविभोर भी हो जाता है। वैसे भी कवि दण्डी का गद्य कलात्मक वाटिका के लिए प्रसिद्ध है, दण्डी शब्द राज्य के समर्थ राजा के रूप में जाने जाते हैं। पद समूह बंशपद अनुचर की भांति उनका अनुगमन करते हैं, उनकी कविता कामिनी मधुर पदगामिनी है। कवि दण्डी के गद्य को जब सूक्तियों का आश्रय मिल जाता तब तो पूछना ही क्या उनके चारों ओर पदावली उमड़–घुमड़ कर सहृदय निकेतन में आनन्द की वर्षा करने लगती है। यह आनन्द की वर्षा बाढ़ का रूप ग्रहण कर चारों ओर जल प्लावित कर देती है, मेदिनी रस सिक्त हो जाती है। यही स्थिति काव्यशास्त्र की भी है, शास्त्रीय अनुशासन अत्यन्त गम्भीर होते हैं। जब उनमें सूक्तियों का सन्निवेश हो जाता है, तो वे सहज बन जाते हैं और अर्थतत्त्व स्वतः प्रकाशित होने लगता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीन विषयों से सम्बन्धित सूक्तियों का संकलन एवं उनकी व्याख्या दी गयी है। यथा धर्मशास्त्रीय समाजशास्त्रीय और काव्यशास्त्रीय सूक्ति। यद्यपि कवि दण्डी के साहित्य में सूक्तियों के बहुआयामी पक्ष का उद्घाटन मिलता है, लेकिन अध्ययन सौविध्य की दृष्टि से उनकी व्यापकता को समावेशी संस्कृति के समान तीन ही भागों में समावेशित कर लिया गया है। यह उसी प्रकार है जैसे संस्कृत साहित्य कवि दण्डी की तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है,

25 काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति,

जो उन्हें सम्पूर्ण साहित्य में गरिमामय स्थान दिलाती हैं, वैसे ही इन तीन अध्यायों में दण्डी की सम्पूर्ण जीवन–दृष्टि एवं जीवन–मूल्य झलकते हैं। यह उनके आदर्श, मूल्य, रहन–सहन, परम्पराएं और साहित्यिक महत्त्व को सूक्ति के माध्यम से साहित्य पटल पर लाने के प्रयास स्वरूप हैं। इस प्रकार प्रथम अध्याय धर्मशास्त्रीय विषय से सम्बन्धित है, जिसमें धर्म, ईश्वर, भाग्य, पुरुषार्थ, दैवीविधान कर्म, कौशल मर्यादा, मन्त्र–शक्ति आदि विषयों को उपस्थित करते हुए उनकी अन्य धर्म–शास्त्रीय परम्परा के ग्रन्थ से तुलना की गयी है। द्वितीय अध्याय दण्डी साहित्य में समाजशास्त्रीय विषयों को उपस्थित करने वाला है। जिसमें स्त्री–पुरुष की मर्यादा, निर्धनता, दाम्पत्य, पुत्र–पौत्र, धन–सम्पदा, काम, अर्थ, गुरूपदेश आदि को बहुत ही गम्भीरता के साथ उपस्थित किया गया है तथा उनका अन्य साहित्यिक सन्दर्भों के साथ उल्लेख भी किया गया है। तृतीय अध्याय काव्यशास्त्रय धर्मों को सूक्त्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने वाला है जिसमें काव्यलक्षण, हेतु प्रयोजन, गद्य, शब्द आदि के महत्त्व पर विस्तार से गवेषणा की गयी है। अन्त में समस्त सूक्ति मूल्यों का सार रूप में परिशिष्ट प्रस्तुत किया गया है जो उनके बहुआयामी पक्षों को उद्‌घाटित करता है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि सूक्ति के माध्यम से कवि दण्डी को यहाँ एक बार पुनः उनके रचना वैविध्य को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

इस ग्रन्थ की भाव भूमि शोध कार्य के समय ही उत्पन्न हो गयी थी लेकिन सागर विश्वविद्यालय में आने पर ही वह सुसंस्कृत होकर इस रूप में परिणत हुई है। अतः इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में ईश्वर ही परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायक रहे हैं मैं उनके चरणों में कोटिशः प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। सदैव कुछ लिखने पढ़ने के लिए एवं सद्‌विचारों से अवगत कराने वाले मेरे आदर्णीय गुरुवर प्रो. मानसिंह, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. अभिराजराजेन्द्र मिश्र, प्रो. पर्णदत्त सिंह, प्रो. शुकदेव भोई, प्रो. उमाकान्त यादव, डॉ. शिवशंकर सिंह यादव डॉ. झिनकू यादव एवं डॉ. गोपाल लाल मीणा जी आदि सदैव मुझे अपने ज्ञान से सिंचित कर

मेरा पथ प्रदर्शन करते रहे हैं। आप सभी मेरे पूजनीय हैं। आप लोगों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मात्र औपचारिकता होगी।

इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में विशेष योगदान देने वाले डा. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी एवं पूर्व अध्यक्ष प्रो. कुसुम भूरिया दत्ता तथा अन्य विभागीय आचार्यगण, डॉ. नौनिहाल गौतम, डॉ. रामहेत गौतम, डॉ. शशिकुमार सिंह, डॉ. किरण आर्या विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जो निरन्तर इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए मुझे प्रेरित करते रहे हैं। इन सभी ने हमेशा मेरे अन्य प्रकाशनों की भूरि–भूरि प्रशंसा करके सदैव मेरे लेखन कार्य में मेरा उत्साहवर्धन किया है, अतः मैं आप सबका कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ की मांगलिक समापन वेला पर प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता श्री शंकर सिंह यादव, एवं वन्दनीया माता श्रीमती सुदामी सिंह यादव, पितृव्य डॉ. महेश सिंह यादव, डॉ. रमेश सिंह यादव, अग्रज श्री हीरालाल सिंह यादव, श्री हरिकेश सिंह यादव एवं श्वसुर डॉ. मिश्रीलाल यादव का निरन्तर सहयोग एवं प्रोत्साहन तथा सहानुभूति प्राप्त होती रही। आप लोगों का स्नेहसिक्त आशीर्वाद ही मेरा पाथेय है। अतः मैं आप सभी का विशेष रूप से ऋणी हूँ।

मेरे अग्रजकल्प डॉ. बालेश्वर प्रसाद यादव, डॉ. सुरेन्द्र कुमार यादव एवं मित्र श्री धर्मेन्द्र कुमार सर्राफ, श्री बुधसिंह, श्री अभिषेक प्रजापति, डा. रामरतन पाण्डेय, डॉ. जनार्दन, डॉ. ऋषभ भारद्वाज, डॉ. हिमांशु कुमार, डॉ. अरविन्द कुमार एवं डॉ. मोहनलाल गुप्ता का विशेष रूप से आभारी हूँ। जिनकी प्रेरणा शक्ति से ही शक्तिमान होकर इस महनीय कार्य को पूर्ण कर सका।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली के श्री. आर. डी. पाण्डेय जी का भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने बड़े मनोयोगपूर्वक इसका स्वरूप आकर्षक बनाया।

मैंने यथाशक्ति ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय और विवेचन में अन्विति बनाये रखने की चेष्टा की है और अपने निष्पक्ष दृष्टिकोण के प्रति सजग

रहा हूँ, तो भी त्रुटियाँ हो सकती हैं, उनके लिए क्षमा चाहता हूँ। अस्तु, यह ग्रन्थ सुधी पाठकों की सेवा में उपस्थित है–

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।
यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।।

(काव्यादर्श, 1–2)

कृष्ण जन्माष्टमी, 06.09.2015 **डॉ. सञ्जय कुमार**

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक्		v
शुभाशंसा		vii
भूमिका		xi
अध्याय– प्रथम :	धर्मशास्त्रीयसूक्ति	25–52
अध्याय– द्वितीय :	समाजशास्त्रीयसूक्ति	53–88
अध्याय– तृतीय :	काव्यशास्त्रीयसूक्ति	89–106
	परिशिष्ट	107–109
	सन्दर्भ ग्रन्थ	110–112

धर्मशास्त्रीयसूक्ति

धर्मशास्त्रीय तत्त्व वैदिक संस्कृति से प्राप्त होने वाला वह तत्त्व है जो शाश्वत जीवन मूल्य को प्रकाशित करते हुए हमारे लौकिक संस्कृत के जीवनाधायक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। हमारी वैदिक संस्कृति सनातनी है, जिसकी देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार नित–नूतन व्याख्या होती चली आ रही है। इस सनातनी परम्परा की मुख्य बिन्दु 'ऋत' है अर्थात् सही, सत्य, उचित, ईमानदार, निश्चित नियम आदि अर्थों में इसे प्रयुक्त किया जाता है।[26] मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत इंग्लिश कोश में ऋत का विशिष्ट अर्थ शाश्वत सत्य बताया है। 'ऋग्वेद' के दूसरे मण्डल में भी उल्लिखित 'ऋत' को ही शाश्वत सत्य के रूप में लिया गया है, जहाँ आया है कि यह सम्पूर्ण संसार ऋत से उत्पन्न है।[27] वैदिक परम्परा इसी 'ऋत' से सदाचरण की ओर प्रवृत्ति हुई और धीरे–धीरे वैदिक संस्कृति का विकास हुआ जिसमें बताया गया कि सदाचरण से ही स्वर्ग प्राप्ति सम्भव है। यहीं से समाजशास्त्रीय तत्त्व एवं धर्मशास्त्रीय तत्त्व दो अलग–अलग धारायें प्रस्फुटित हो जाती हैं। कहने का भाव यह है कि जहाँ धर्म, दैवीशक्ति, आध्यात्म और दर्शन का विचार किया जाता है वे धर्मशास्त्रीय तत्त्व हैं और जहाँ संस्कृति, आचारण कर्त्तव्य आदि विषयों की गहन मीमांसा हुई, वे समाजशास्त्रीय तत्त्व हैं। प्रारम्भ में ये दोनों एक ही धर्मशास्त्रीय तत्त्व के अन्तर्गत आते थे, लेकिन आज के परिवेश में दोनों को अलग–अलग ही मान्यताएं मिली हुई हैं।

हम वैदिक सनातनी परम्परा को ऋत मानते हैं, जो सत्य का स्वरूप है। यह सत्य ही धर्म है, धर्म हमें शुभ में प्रवृत्त करता है। जिसकी स्वीकारोक्ति ताण्ड्य ब्राह्मण देता है–

---

26 आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 223

27 ऋग्वेद, 2/25/78

ऋतेन स्वर्गलोकं गामयति।[28]

ऋत (सत्य) से स्वर्ग लोक को गमन होता है। इस ऋत को ही स्वर्ग प्राप्ति का साधन माना गया है। इसीलिए वेदों में सूर्य एवं चन्द्र को सत्य का आदर्श मानकर कल्याणकारी सतपथ पर चलने की कामना की गयी है। सत्य ही धर्म का स्वरूप है और वेद शाश्वत सत्य का प्रतीक हैं। इसीलिए आचार्य मनु धर्म के पांच उपादान मानते हुए लिखते हैं–

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।[29]

वेद, स्मृति (परम्परा से चला आया हुआ ज्ञान) सदाचार, जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा ये ही परम्परा से चले आये हुए धर्मोपादान हैं। धर्म हमें इस प्रकार पोषित करता है जिस प्रकार माँ अपने बालक को पोषित करती है, इसी अर्थ में धारणात् धर्मः परिभाषित किया जाता है। इस सम्बन्ध में धर्म की कतिपय मनोरम परिभाषाओं की ओर संकेत करना अपेक्षित हो जाता है। पूर्वमीमांसासूत्र में जैमिनि ने धर्म को वेद विहित प्रेरक लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है। यानि वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है–

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः[30]

'वैशेषिकसूत्रकार' ने धर्म के विषय में कहा है–

यतोऽभ्युदयानिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः[31]

अब मैं धर्म की व्याख्या करता हूँ कि धर्म वही है, जिनसे आनन्द एवं निःश्रेयस् की सिद्धि हो। इसी प्रकार धर्म की अन्य परिभाषाएं भी प्राप्त होती हैं। यथा– **अहिंसा परमोधर्मः**[32] **आनृशंस्यं**

---

28 ताण्ड्य ब्राह्मण, 18/12/19
29 मनुस्मृति, 216
30 पूर्वमीमांसा सूत्र, 1/1/2
31 वैशेषिक सूत्र,
32 महाभारत, अनु. 159/1

परो धर्मः[33] **आचारः परमो धर्मः**[34] इसी प्रकार अनेक परिभाषाएं धर्म के विषय में प्राप्त होती हैं। 'गौतमधर्म सूत्र' के अनुसार वेद धर्म का मूल है–

वेदो धर्म मूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।[35]

इस प्रकार वैदिक जीवन पद्धति ही धर्म है। जिस प्रकार वैदिक युग में वेद के माध्यम से धर्म का प्रतिपादन किया गया उसी प्रकार पौराणिक युग, या लौकिक संस्कृत युग में भी कवि मनीषी द्वारा धर्म तत्त्व को प्रकाशित किया गया, जिनका प्रमाण जीवन–मूल्य परक विष्णुपुराण का यह श्लोक है–

सदाचारावृत्तः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः।
मैत्रीद्रवान्तः करणस्तस्य मुक्ति करे स्थिता।।[36]

सदाचारनिष्ठ, विद्या–विनय वाला और पापी के प्रति भी निष्पाप जो विद्वान् कठोर के उत्तर में भी प्रिय बोलता है, जिसका हृदय मैत्रीभाव से द्रवित है उसके हाथ में मुक्ति है। यहाँ मोक्ष का मार्ग बताया गया है, जो भारतीय–दर्शन का चरमोलक्ष्य है। भगवत् स्वरूप के विषय में श्रीमद्भागवतपुराण में कहा गया है–

नह्यस्यास्तिप्रियःकश्चिन्ननाप्रियःस्वःपरोऽपिवा।
आत्मंत्वात्सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः।।[37]

भगवान् का कोई प्रिय, अप्रिय, अपना, पराया नहीं है। उनके लिए सभी प्राणी प्रिय हैं क्योंकि वे सबकी आत्मा हैं। इस प्रकार इन साहित्यों में भी उसी धर्म का उपदेश दिया गया है जिसका प्रतिपादन वेद करता है। धर्म को 'महाभारत' में महान् पथ माना गया है। वहाँ कहा गया है–

महानयं धर्मपथः बहुशाखश्च भारत[38]

---

33 महाभारत, वनपर्व

34 मनुस्मृति 1/108

35 गौतमधर्मसूत्र 9/1/2

36 विष्णुपुराण, 3/12/41

37 श्रीमद्भागवतपुराण, 6/17/23

38 महाभारत, शान्तिपर्व, 108/1

हे भारत यह धर्म पथ महान् है, इसकी बहुत शाखायें हैं। यहाँ धर्म की निःश्रेयसता का ही प्रतिपादन किया गया है। धर्म के विषय में वाल्मीकीय रामायण में भी कहा गया है–

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वे धर्मसारमिदं जगत्।।[39]

धर्म से अर्थ प्राप्त होता है, धर्म से सुख होता है। धर्म से ही मनुष्य सब कुछ पाता है। इस संसार में धर्म ही सार है। इसी परिप्रेक्ष्य में धर्म की बहुत शाखाएं बतायी गयी हैं। वेद में जिस ऋत को सत्य माना गया है, और उस सत्य से स्वर्ग प्राप्ति की बात कही गयी है। उसी का प्रतिपादन 'वाल्मीकीय रामायण' में भी मिलता है–

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः।।[40]

सत्य, धर्म, पराक्रम, प्राणियों पर दया, प्रियवचन बोलना, ब्राह्मण, अतिथि एवं देवताओं की पूजा करना, इन सबको सन्तों ने स्वर्गलोक का मार्ग बताया है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ये धर्म तत्त्व वैदिक युग से प्राप्त होकर लौकिक संस्कृत युग में भी विद्यमान रहे हैं। कवियों के द्वारा श्रेयस् युक्त धर्म के विभिन्न राजाओं का वर्णन भी तत्युगीन साहित्य में मिलता है उसी क्रम में महाकवि दण्डी अपने कृतियों के माध्यम से धर्म के व्यापक स्वरूप का उद्घाटन करने का प्रयास किये हैं, जिनका सूक्ति रूप में यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः[41]

विकट वर्मा के शरीर परिवर्तन के रहस्य पर मंत्रियों द्वारा अनुमोदन किया जाता है कि मणियों, मन्त्रों और औषधियों की शक्ति अचिन्तनिय होती है।

मणि, मन्त्र और औषधि साक्षात् दैवी स्वरूप हैं। इनकी शक्ति के विषय में अनुमान करना मानव की सीमा से परे है। हमारी प्रकृति भी उसी की परिचायिका है, उसके गुणों के विषय में भी हम सहजता से

39 वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, 9/30
40 वही, अयोध्याकाण्ड, 109/31
41 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका तृतीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 103

नहीं जान सकते हैं। 'वाल्मीकीय रामायण' में आया है कि जब रावण के द्वारा 'कुमारलक्ष्मण' को शक्ति लगती है तो सुषेण नामक वैद्य ने विविध औषधियों के प्रयोग से 'लक्ष्मण' कुमार को सचेत करता है। सभी लोग लक्ष्मण के जीवन की आशा त्याग चुके थे, यहाँ तक कि स्वयं 'रामचन्द्र' भी 'लक्ष्मण' के लिए विलाप करने लगे थे, लेकिन महाबली हनुमान के द्वारा लाई गयी 'विशल्यकरिणी' 'सवर्ण्यकरिणी' 'संजीवकरणी' तथा संधानी औषधि को कूट–पीसकर लक्ष्मण की नाक में छोड़ दिया गया और परिणाम हुआ–

सशल्यः स समाघ्राय लक्ष्मणः परवीरहा।
विशल्यो विरुजः शीघ्रमुदतिष्ठन्महीतलात्।।[42]

शत्रु का संहार करने वाले लक्ष्मण के सारे शरीर में बाण धसे हुए थे। इस अवस्था में उस औषधि को सूँघते ही उनके शरीर से बाण निकल गये और वे निरोग हो शीघ्र ही भूतल से उठकर खड़े हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि मात्र औषधि के द्वारा मरणासन्न लक्ष्मण पुनः जीवित हो जाते हैं और बाद में युद्ध भी करते हैं। इसी प्रकार महात्माओं की शक्ति के विषय में भी कादम्बरी में कहा गया है–

अचिन्त्यो हि महात्मनां प्रभाव।[43]

महात्माओं की शक्ति अचिन्तनीय हुआ करती है। वे जो चाहे कर सकते हैं क्योंकि 'उत्तररामचरितम्' में भी कहा गया है–

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति[44]

प्राचीन महर्षियों की वाणी के पीछे अर्थ स्वयं चलता है। महर्षियों के द्वारा जो कह दिया जाता है वह होकर ही रहता है। मन्त्र और औषधि के विषय में 'कालिदास' भी लिखते हैं–

राजा स्वेतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः[45]

महाराज दिलीप मन्त्र तथा औषधि के प्रयोग से रुके बल वाले सर्प की भाँति स्वयं के तेज से भीतर ही भीतर जल उठे। कहने का भाव यह

42 वाल्मीकीयरामायण, युद्धकाण्ड, 101/45

43 कादम्वरी, महाश्वेता वृत्तान्त

44 उत्तररामचरितम्, 1/10

45 रघुवंश 2/32

है मन्त्र शक्ति या औषधि के समक्ष विषधर भुजंग भी कुछ नहीं कर पाता है। वही स्थिति सिंह के सामने महाराज दिलीप की हो जाती है। वे उस सिंह के सामने लाचार हो जाते हैं। महाकविहर्ष की 'रत्नावली' में भी मणि मन्त्र और औषधि की शक्ति को अचिन्तनीय कहा गया है–

अचिन्त्यो हि मणिमंत्रोषधीनां प्रभावः।[46]

इसी अर्थ में 'महाकवि दण्डी' भी मणि, मंत्र और औषधि के प्रभाव को असीमित माना है। उसके प्रभाव को मनुष्य नहीं जान सकता है।

अर्थो हि महात्मनामनुच्छिन्न सन्ततिर्यशः।[47]

यश प्रवाह रूपी सम्पत्ति ही बड़े लोगों की निरन्तर चलने वाली सन्तति होती है। महान् पुरुष यश को ही धन मानते हैं। यश ऐसी सन्तति है जिसका कभी विनाश नहीं होता है। कवि काव्य से यश की ही कामना करता है। जैसा कि आचार्य मम्मट लिखते हैं–

काव्यं यशसे[48]

काव्य यश के लिए होता है। यश अर्थात् कीर्ति ही महान् लोगों की पहचान हुआ करती है। धन को श्रेष्ठ मानने वाले लोग तो छोटी मति के हुआ करते हैं, लेकिन जिसकी मति बड़ी होती है, वे सदैव अपनी कीर्ति को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं और आगे बढ़ते हैं। रघुवंश महाकाव्य में जब राजा दिलीप सिंह को मारने में असमर्थ हो जाते हैं और धेनु को वह खाने के लिए उद्धत होता है तो महाराजा दिलीप उसे स्वयं का शरीर अर्पित करने की बात अपनी यशः शरीर की रक्षा करने के लिए करते हैं–

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।[49]

राजा ने कहा हे मृगेन्द्र! यदि मैं आपके लिए अवध्य मान लिया गया हूँ, तो आप मेरी कीर्ति रूपी शरीर पर दया कीजिए क्योंकि मुझ जैसे लोगों की इस विनाशशील पञ्चभौतिक शरीर से कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती है। महाराज दिलीप को अपने यशः शरीर की चिन्ता है, भौतिक

---

46 रत्नावली, 2

47 अवन्तिसुन्दरीकथा, अ.श.वि.वि., पृ. 58

48 काव्यप्रकाश, 1/2

49 रघुवंश, 2/57

शरीर की नहीं, यह भौतिक शरीर नाशवान होती है, जबकि यशः शरीर शाश्वत। इसीलिए दण्डी लिखते हैं कि यश प्रवाह रूपी सम्पत्ति ही महान लोगों की निरन्तर चलने वाली सन्तति होती है।

अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः।[50]

मंत्री वसुरक्षित राजा अनन्तवर्मा को राजनीति का उपदेश देते हुए कहता है कि राजनीति का परिष्कार न प्राप्त कर वह बुद्धि उसी प्रकार पूरी तरह से चमत्कृत नहीं होती है जिस प्रकार आग में भली–भाँति शुद्ध न की गयी स्वर्ण जाति।

वस्तुतः राजनीति वह विद्या है जिससे मानव की बुद्धि का अद्भुत परिष्कार हो जाता है और वह अपने कार्य सिद्धि में सफल हो जाता है। राजा का जीवन अनेक प्रकार के हर्ष–विषाद से भरा होता है, वह कोई भी कार्य स्वहित के लिए नहीं बल्कि परहित के लिए ही करता है। राजा द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य का प्रभाव प्रजा के ऊपर किस रूप में पड़ेगा? यह राजनीति का पण्डित ही समझ सकता है, इसलिए एक राजा को विशेष कठिनाई से प्राप्त होने वाली राजनीतिक विद्याओं को ग्रहण करना चाहिए। जब तक वह राजनीतिक विद्याओं में पारंगत नहीं हो जाता है तब तक वह बिना अग्नि में तपाये हुए स्वर्ण जाति के समान ही रहता है। अतः हमारे धर्मशास्त्रों में राजा के लिए परिष्कृत बुद्धि का ही विधान किया गया है। राजा ही प्रजा का भाग्य विधाता होता है। वह प्रत्येक कार्य के प्रति उत्तरदायी होता है। इसलिए उसे प्रत्येक कार्य को बहुत विचार–विमर्श पूर्वक ही करने की सलाह मनुमहाराज देते हैं–

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस् तु विनाशयति सर्वतः।।[51]

सभी पक्षों में ध्यान अच्छी तरह प्रयुक्त करने पर दण्ड सभी प्रजा को प्रसन्न करता है, सभी पक्षों में ध्यान न देकर अनुचित रूप से प्रयुक्त करने पर तो दण्ड (राज्य व्यवस्था) सभी ओर विनाश ही करता है। इसलिए 'कविदण्डी' राजा के परिष्कृत बुद्धि का मानदण्ड बतलाते हैं।

---

50 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 240

51 मनुस्मृति, 7/19

आगमदीपदृष्टेनखल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा।[52]

मंत्रि वसुरक्षित एकांत में राजा अनन्तवर्मा को सदुपदेश देते हुए कहता है कि शास्त्र रूपी दीपक से देखे गये रास्ते से चलकर ही लोक स्थिति सुखपूर्वक रह पाती है।

शास्त्रीय दृष्टि से ही किया गया कार्य ही लोकोपकारी हुआ करता है, बिना शास्त्ररूपी दृष्टि के तो मनुष्य अन्धे के समान हैं–

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः।।[53]

सब प्रकार के संशय को दूर करने वाला तथा परोक्ष वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष कराने वाला शास्त्र सबका नेत्र है। जिसके पास यह शास्त्र रूपी नेत्र नहीं है वह मनुष्य अन्धे के समान है। ग्यारहवीं शताब्दी में 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोजदेव ने शास्त्र शब्द की विधि–प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रं' इस प्रथम व्युत्पत्ति को लेकर ही शास्त्र शब्द का प्रयोग माना है। उन्होंने लिखा है–

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणं।
तदध्येयं बिदुस्तेन लोक यात्रा प्रवर्तते।।[54]

विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाला यानि शासन करने वाला शास्त्र है। उसका अध्ययन करना चाहिए क्योंकि उसी से लोक व्यवहार का सञ्चालन होता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि हमारा लोक व्यवहार शास्त्रों के अध्ययन के बिना सम्यक रूप से सम्पादित नहीं हो सकता है। शास्त्र हमें दृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे यथार्थ का बोध होता है। यह बोधात्मक स्थिति हमें कर्त्तव्य पालन के लिए प्रेरित करती है। शास्त्र अध्ययन का यही नियम भी है–

अधिति बोधाचरण प्रचारैः[55]

सर्व प्रथम शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए उसके अनन्तर उसका बोध और पुनः उसका आचरण उसके बाद ही उस ज्ञान को लोक कल्याण

52 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा, पृ. 241

53 हितोपदेश, मित्रलाभ, 10

54 सरस्वतीकण्डाभरण, 2/138

55 नैषधीयचरित, 1/3

के निमित्त प्रचार करना चाहिए। शब्द समूह रूप शास्त्र एक ज्योति पुञ्ज के समान है। आचार्य दण्डी भी 'काव्यादर्श 'में शब्द की महत्ता प्रतिपादित करते हुए इसी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं--

इदमन्धं तमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[56]

यदि शब्द (शास्त्र) रूप ज्योति समस्त संसार में प्रदीप्त न हो तो सम्पूर्ण त्रिभुवन अज्ञान के सघन अन्धकार में लीन हो जायेगा।

यह शास्त्र रूपी शब्द ज्योति के द्वारा हमारा लोक व्यवहार सम्पादित होता है। इसीलिए कवि दण्डी लिखते हैं कि शास्त्ररूपी दीपक से देखे गये मार्ग पर चलकर लोक की स्थिति ठीक रह पाती है। जो लोग शास्त्ररूपी दीपक का आश्रय नहीं लेते हैं उनका पतन हो जाता है।

आत्मानमात्मनानवसाद्यैवोद्धरन्ति सन्तः[57]

सन्त लोग अपनी आत्मा को बिना कष्ट दिये ही अपना उद्धार कर लेते हैं।

ऐसे ही लोग कर्मशील होते हैं। उनके कर्म ही जीवन की सार्थकता को सिद्ध करते हैं। वे ऐसा कोई भी कर्म नहीं करते हैं जिससे सांसारिक दुःखों को भोगना पड़े बल्कि वे ऐसा कार्य करते हैं जिससे वे जन्म--मृत्यु के चक्र से मुक्त हों। उनका कार्य श्रेय मार्ग के अनुरूप रहता है इसलिए मनुष्य के जीवन में श्रेयकर्म का बहुत महत्त्व है। बिना श्रेयकर्म किये इस संसार से उद्धार होने वाला नहीं है। सज्जन मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा ही इस संसार में अपना जन्म को पुण्यमय बनाते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्य कभी अपने कर्म का त्याग नहीं करते हैं। जैसा कि हितोपदेश में कहा गया है--

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति।।[58]

---

56 काव्यदर्श, 1/4

57 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 45

58 हितोपदेश मित्रलाभ, 30

बुद्धिमान् पुरुष को अपना उद्योग कभी भी बन्द नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना उद्योग के तिल से तेल भी नहीं निकाला जा सकता है, कहने का भाव यह है कि साधु पुरुष अपना उद्धार विहित कर्म को करके ही करता है। वह किसी के आश्रित नहीं रहता है, उसके मन में स्वयं कर्म करने की अटल प्रेरणा हुआ करती है, जिसके बल पर वह आत्मलाभ प्राप्त करता है। उसके विहित कर्म में ही इतनी शक्ति हुआ करती है कि उसे अन्य कठिन तपस्या करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती है। इसलिए विहित कर्म को करने से ही भाग्य फलीभूत हुआ करती है। जैसा कि कहा भी गया है--

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति।।[59]

जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार उद्योग बिना भाग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। कहने का अभिप्राय यह कि मानव जीवन में स्वयं के उद्धार के लिए कर्म की महती आवश्यकता होती है। साधु पुरुष केवल कर्म करता है और आगे बढ़ता है। जो कर्म नहीं करता है, उसका जीवन दुःख के भवसागर में निमग्न हो जाया करता है। इसीलिए कवि दण्डी लिखते हैं कि सज्जन पुरुष जो कर्म में विश्वास रखते हैं, वे अपने कर्मों के द्वारा संसार सुख को प्राप्त करते हैं और लोक और परलोक में अपना यशः ख्यापन करते हैं।

इह जगति हि न निरीहं देहिनं श्रियः संश्रयन्ते।[60]

संन्यासी भेष में मंत्रगुप्त अपने समीप आये हुए राजा जयसिंह से कहता है कि निश्चय ही इस संसार में इच्छा रहित प्राणी को सम्पदायें नहीं अपनाती हैं।

जब मनुष्य किसी वस्तु की इच्छा रखता है तभी उसे वस्तु प्राप्त होती है और जब उसके अन्दर किसी प्रकार की इच्छाशक्ति नहीं होगी या उसका कुछ लक्ष्य नहीं होगा तो उसे कोई वस्तु कैसे प्राप्त हो सकेगी? इच्छा ही संकल्प का रूप है, इसी से मनुष्य के अन्दर कर्म करने

---

59 हितोपदेश, मित्रलाभ, 32

60 दशकुमार चरितम्, सप्तमोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, मो.ला.व.दा., पृ. 228

की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में स्वकर्म की प्रेरणा दी गयी है–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।[61]

अपने–अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति रूप परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है उसे तुम सुनो। स्वाभाविक कर्म इच्छा शक्ति के द्वारा ही सम्भव है, मनुष्य की इच्छा शक्ति कर्मों की जननी कही जाती है। यदि हम आलस्य करके बैठें रहें तो हमें कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं है। अतः 'नीतिशतक' में ठीक ही कहा गया है–

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमोबन्धु कुर्वाणो नावसीदति।।[62]

अकर्मण्यता (इच्छाशक्ति का अभाव) ही मनुष्य के शरीर में स्थित शत्रु है। उद्यम के समान कोई बन्धु नहीं है जिसको करता हुआ मनुष्य कोई दुःख नहीं प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य के हृदय में कुछ करने की अभिलाषा सदैव रहनी चाहिए। मनुष्य का जीवन कर्म करने के लिए ही बना है। यदि वह कर्म नहीं करता है, उसे मनुष्य होने का कोई अधिकार नहीं है।

एष खलु क्षत्रधर्मो यद्वन्धुरवन्धुर्वा दुष्टः स निरपेक्षं निग्राह्य इति।[63]

यही क्षत्रिय का नियम है कि वन्धु हो या अवन्धु यदि अपराधी है, तो वह दण्डनीय है।

यहाँ क्षत्रिय शब्द राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। राजा का यह पुनीत कर्त्तव्य होता है कि अपराधी मित्र हो अथवा अमित्र उसे दण्ड देना चाहिए, क्योंकि दण्ड को धर्म का स्वरूप माना जाता है। दण्ड व्यवस्था के कारण ही इस लोक की व्यवस्था सम्यक् प्रकार से सञ्चालित हो पाती है। दण्ड के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मनुस्मृति में कहा गया है–

---

61 श्रीमद्भगवद्गीता, 18/45

62 नीतिशतक, 86

63 दशकुमार चरितम्, उत्तरपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 127

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाऽभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर बुधाः।।
समीक्ष्य सं धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस् तु विनाशयति सर्वतः।।[64]

दण्ड सभी प्रजाओं को कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का उपदेश देता है, दण्ड ही सभी ओर से रक्षा करता है। लोगों के सोने पर भी दण्ड जागता रहता है। बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म का रूप मानते हैं। सभी पक्षों में ध्यान देकर अच्छी तरह प्रयुक्त करने पर दण्ड सभी प्रजा को प्रसन्न करता है पक्षों सभी पर ध्यान न देकर अनुचित रूप में प्रयुक्त करने वाला दण्ड सभी प्रकार से विनाश कर देता है। इसीलिए कहा जाता है कि राजा को सदैव दण्डनीय के लिए दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि वह दण्डनीय को दण्ड नहीं देता है, तो समाज में अराजकता फैल जाती है। इसीलिए महाकवि भारवि दुर्योधन की राज्य व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।[65]

जितेन्द्रिय होकर वह दुर्योधन न तो धनों की कामना करता हुआ और न ही क्रोध के कारण प्रत्युत लोभादि कारणों से दूर होकर केवल अपना धर्म मानकर गुरूओं द्वारा निर्दिष्ट दण्ड देकर अपने शत्रु को अथवा पुत्र को भी धर्मव्यतिक्रम करने पर दण्ड देता है।

कोऽतिवर्तते दैवम्[66]

उदारक की प्रेमिका को गन्तव्य तक छोड़ने के लिए जाते हुए उपहारवर्मा के विषय में सैनिकों द्वारा कहा जाता है कि भाग्य को कौन टाल सकता है। जो होना है, वह होकर ही रहेगा और जो नहीं होना है, वह कभी होगा भी नहीं। यह उक्ति बार–बार लोगों के द्वारा सुनी जाती है। इस उक्ति में ईश्वर विधान का स्पष्ट विश्वास प्रतीत होता है। हमारी संस्कृति में ईश्वर ही सर्वनियन्ता है। कविदण्डी भी अपने ग्रन्थ में इसी होनहार का प्रतिपादन करने का प्रयास किये हैं। कालिदास

64 मनुस्मृति, 7/18–19
65 किरातार्जुनीयम्, 7/13
66 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 40

अभिज्ञानशाकुन्तल में इसी होनहार की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए लिखते हैं–

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।।[67]

यह आश्रम स्थान शान्त है। मेरी दाहिनी भुजा फड़क रही है। यहाँ इसका फल कहाँ सम्भव है? अथवा होनी के द्वार सब जगह होते हैं। यानि जो होना है वह अपना मार्ग निकाल लेगा। इस प्रकार महान् लोग होनहार के विषय में न चिन्तित होते हैं और न प्रसन्न; क्योंकि होनी अटल सत्य है। कण्व आश्रम में कन्या की प्राप्ति का संकेत असम्भव सा दुष्यन्त को लग रहा था लेकिन वह विचार करता है कि होनी के द्वार तो सब जगह होते हैं। इसलिए मनुष्य को सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि होनहार कभी भी सम्भव है।

गृहिणः प्रियहिताय दारगुणाः[68]

गृहस्थों के प्रिय को गुणवती स्त्री ही कर सकती हैं। एक स्त्री का जीवन त्याग और तपस्या का मूर्तिमान स्वरूप होता है, वह अपने पति के लिए आत्मसुखों का बलिदान देने के लिए तैयार बैठी रहती है। गुणवती स्त्री का सबसे बड़ा कर्त्तव्य यही होता है कि वह सुख अथवा दुःख में अपने पति या परिवार के लिए जो हितकारी हो उसे करें। घर के मान–सम्मान का विशेष ध्यान स्त्री ही रखती है। इसीलिए स्त्री के बिना घर नहीं होता है। ऐसा लोगों के द्वारा कहा जाता है–

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं हि गृहिणीहीनमरणयसदृशं मतम्।।[69]

'वह घर ही घर नहीं है। गृहिणी को घर कहा जाता है। जिस घर में गृहिणी न हो वह अरण्य के समान है।' गृहिणी घर की शोभा है। जब शोभा न रहे तो सब कुछ मलिन और रसविहीन प्रतीत होने लगता है, सभी प्रसन्नताएं समाप्त हो जाती हैं, घर सूना हो जाता है जैसे अरण्य

---

67 अभिज्ञानशाकुन्तल, 1/16

68 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 196

69 पञ्चतन्त्र 3/145

सूना रहता है। इसलिए गृहस्थों के यहाँ गुणवती स्त्री का होना नितान्त आवश्यक है। 'सम्पलव' में 'आचार्य राधावल्लभ 'त्रिपाठी लिखते हैं–

"सा निश्चप्रचमेव स्माद्धि गृहिणी यस्यां गृहं संस्थिता"[70]

वह निश्चित ही गृहिणी है जिसके कारण पूरा घर स्तीत्त्व में होता है। गृहिणी ही घर की आधार स्तम्भ होती है। बिना स्तम्भ का कोई वस्तु रह पाती है क्या?, नहीं। इसीलिए कवि दण्डी गुणवती स्त्री की बात करते हैं।

चित्रेयं दैवगतिः[71]

दैवगति बड़ी ही विचित्र होती है।

दैवगति का आशय भाग्यचक्र से है। मनुष्य के जीवन में कब क्या घटित हो जायेगा, इसी को भाग्य की विचित्र गति कहा गया है। महाकवि भास भी लिखते हैं–

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्ति।[72]

समयानुसार परिवर्तनशील संसार की भाग्यपंक्ति रथ के पहिये की अराओं की तरह ऊपर–नीचे जाती है। इस भाग्य चक्र के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है। इसी तथ्य का प्रतिपादन 'कालिदास ' अपने 'मेघदूत' में उस समय करते हैं जब यक्ष विरहिणी यक्षिणी को अपना सन्देश भेजता है–

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवालम्वे
तत्कल्याणि! त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।[73]

हे प्रिये! बहुत विचार करता हुआ मैं अपने आप ही अपने को सहारा दिये रहता हूँ। हे सुभगे! इसलिए तुम भी बहुत अधिक व्याकुल मत होवो। <u>अत्यन्त लगातार </u>सुख अथवा लगातार दुःख किसे प्राप्त होता है लोगों

70 सम्पल्लवः, पृ. 87

71 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 212

72 स्वप्नवासवदत्तम्, 1/4

73 मेघदूत, उत्तरमेघ, 49

की भाग्य पहिये के अरे के क्रम से नीचे और ऊपर जाती रहती है। तण्डुलप्रस्थीयम् में 'आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी' भी लिखते हैं–

अहो चक्रनेभिक्रमेण नीचैरुपरि च यान्ति मानव–जीवनदशा[74]

आचर्श्य है, घूमते हुए चक्र के धुरी के समान मानव की जीवन दशाएं ऊपर–नीचे होती रहती हैं। अतः इस भाग्य के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है, यह बहुत ही विचित्र है।

देव्याः शक्तेः पुरो न बलवती मानवी शक्तिः।[75]

ईश्वरीय शक्ति के आगे मानवीय शक्ति बलवती नहीं होती है।

ईश्वर को जगत् नियन्ता माना जाता है और मनुष्य स्वयं पर ही नियन्त्रण कर ले तो यह उसके लिए बड़ी बात हुआ करती है। ईश्वर की शक्ति के सम्मुख मनुष्य की शक्ति का कोई स्वरूप दिखलाई नहीं पड़ता है। ईश्वर की तुलना कहीं भी किसी समय में मनुष्य से हो ही नहीं सकती है क्योंकि ईश्वर तो क्लेश कर्म विपाक और आशय के परामर्श से रहित एक विशेष प्रकार का पुरुष है–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।[76]

उस ईश्वर के ऐश्वर्य की कोई सीमा नहीं है, जबकि मनुष्य सीमा के अन्दर है। अतः ईश्वर जो चाहता है वही ही होता है। उसकी शक्ति के सम्मुख मानवीय शक्ति बौनी है। मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य होता है कि वह ईश्वरीय विधान का पालन करें और ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास रखें। इस तथ्य को मैं एक आख्यान द्वारा प्रस्तुत करना चाहूँगा–एक समय कोई महात्मा जी नाव से नदी पार कर रहे थे। जब उनकी नाव बीच नदी में पहुँची तो वह डूबने जैसी हो गयी महात्मा जी उस नाव में अपने कमण्डल से नदी का जल छोड़ने लगे। लेकिन कुछ समय पश्चात् उन्हें लगा कि हमारी नाव खतरे से बाहर हो गयी है, तो उन्होंने पुनः जो उनके द्वारा नावं में पानी छोड़ा गया था, उसे निकाल कर नदी में छोड़ने लगे। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि

---

74 तण्डुलप्रस्थीयम्, पृ. 26

75 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, उपसंहार, मो.ला.व., पृ. 286

76 योगसूत्र, 1/24

यह महात्मा किस प्रकृति का है? जो इस प्रकार का व्यवहार कर रहा है। अपने कौतुहल के कारण लोग पूछे बाबा आपकी नाव जब खतरे में थी तो आप उसमें पानी डाल रहे थे और जब नाव खतरे से बाहर निकल गयी तो आप उसी जल को निकालने लगे, इसमें क्या रहस्य है? महात्मा जी धीरे से मुस्कुराएं और बोले कि मुझे एक समय लगा कि ईश्वर इस नाव को डूबाना चाहता है तो मैं उसमें जल छोड़ने लगा और जब हमें लगा कि ईश्वर इस नाव को उबारना चाहता है तो इसमें से जल निकालने लगा, मैं तो केवल ईश्वर की इच्छा में सम्मिलित होने का प्रयास कर रहा था। लोग स्तब्ध रह गये, कहने का भाव यह है कि ईश्वर के सामर्थ्य को समझें और उसी के अनुरूप कार्य करें, उसी में मनुष्य का कल्याण है। ईश्वरीय शक्ति का विरोध नहीं अनुगमन करने में हमारा कल्याण है। महा कवि भास भी लिखते हैं–

यत्नैः शुभैः पुरुषता भवतीहनृणाम्।
देवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धि।।[77]

शुभ यत्नों से ही पुरुषों का पौरुष सार्थक होता है। कार्य की सफलता तो दैवी विधान का अनुसरण करती है। इसीलिए कवि दण्डी लिखते हैं कि दैवी शक्ति के आगे मानवीय शक्ति बलवती नहीं होती है।

धर्मपूते च मनसि नभसीव न जातु रजोऽनुषज्यते।[78]

धर्म से पवित्र हुए मन में रज (रजोगुण) उसी तरह कदापि लिप्त नहीं होता है जिस तरह आकाश में रज (धूल) कभी लिप्त नहीं होती है।

धर्म मनुष्य को सहज एवं स्वस्थ मार्ग पर ले जाता है। धर्म शब्द धृज् धारणे धातु से मन प्रत्यय लग कर बना है जिसकी व्युत्पत्ति ' ध्रियते लोकोऽनेन धरित लोकं वा' अर्थात् जो लोक अथवा संसार को धारण करता है एवं जिसको सभी मनुष्य धारण करते हैं वही धर्म है। 'महाभारत' में कहा भी गया है कि–

धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मों धारयते प्रजाः।[79]

---

77 अविमारक, 3/12

78 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 27

79 महाभारत, कर्णपर्व, 69/59

लोक को धारण करने से धर्म की सार्थकता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। महर्षि कणाद् भी धर्म के विषय में कहते हैं–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।[80]

जिससे इहलोक में उन्नति और परलोक में नि'श्रेयस् की सिद्धि हो वही धर्म है। यह धर्म मनुष्य को चहुँ ओर से सुरक्षित रखता है। धर्म के द्वारा मनुष्य के हृदय में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता है। धर्मसेवी मनुष्य निर्विकार ही रहता है इसीलिए कहा गया है–

धर्म एव हतो हन्ति धर्मों रक्षति रक्षितः[81]

धर्म का नाश करने पर वह नाश कर देता है, धर्म रक्षित होने पर रक्षा करता है। धर्म मनुष्य के अन्दर पवित्रता का भाव उत्पन्न कर देता है। पवित्र भाव वाला मनुष्य ही निःश्रेयसता को प्राप्त करता है। इस प्रकार 'कवि दण्डी' द्वारा उद्धृत सूक्ति का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है कि धर्म से पवित्र हुए मन में किसी प्रकार का रज–विकार नहीं उत्पन्न होता है।

नधर्मस्तत्त्वदर्शिनां विषयोपभोगेनोपरुध्यत इति।[82]

काम मजंरी पर आसक्त हुए महर्षि मरीचि कहते है कि तत्त्वदर्शियों के विषय–भोग से धर्म को बाधा नहीं पहुँचती है।

कहने का भाव यह है कि जो इस सांसारिक मोह–माया और भोग से ऊपर उठकर आत्मसुख में रमण करने लाता है तो उसके लिए सांसारिक–भोग बहुत ही तुच्छ वस्तु हो जाती है। वह इस सांसारिक भोग से युक्त होते हुए भी इनसे अप्रभावित ही रहता है। एक पौराणिक आख्यान आता है कि एक बार ऋषि दुर्वासा यमुना के उस पार पधारे हुए थे और यमुना में पानी अत्यधिक भरा हुआ था। गोपिकाओं को उनके लिए भोजन लेकर जाना था, वे श्रीकृष्ण से निवेदन करती हैं कि किसी उपाय से हमें उस पार करावों मोहन। कृष्ण उन्हें एक उपाय बताते हैं कि जाओं यमुना से कह देना कि यदि कृष्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हों तो यमुना हमें उस पार जाने के लिए स्थान दें। कृष्ण की यह उक्ति गोपिकाओं के समझ में नहीं आई क्योंकि गोपिकाएं समझती थी कि कृष्ण

---

80 वैशेषिकसूत्र

81 मनुस्मृति, 8/15

82 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 28

हम लोगों के प्रेम के कारण खण्डित ब्रह्मचर्य वाले हैं। परन्तु कोई उपाय और था नहीं, फलस्वरूप गोपिकाएं यमुना के पास जाकर कृष्ण द्वारा कहे गये वाक्य को दुहराती हैं और यमुना तुरन्त उस पार जाने के लिए मार्ग दे देती हैं। गोपिकाएं इस रहस्य को समझ नहीं सकी। अनन्तर वे उस पार पहुंचती हैं और महर्षि दुर्वासा को भोजन कराकर, उनसे भी लौटने के लिए मार्ग पूंछती हैं। ऋषि दुर्वासा पूछते हैं कि तुम लोग आयी कैसे हो? इस पर वे सब कृष्ण के द्वारा कही हुई बात को बताती हैं। इस पर महर्षि दुर्वासा जी कहते हैं कि जाओं यमुना से कह देना कि यदि महर्षि दुर्वासा कभी कुछ न खाये हों तो यमुना हमें उस पार जाने का मार्ग दे दो। गोपिकाएं सोचती हैं कि अभी–अभी हम लोगों के द्वारा इन्हें भोजन कराया गया है और ये इस तरह यमुना के पास जाकर कहने के लिए कह रहे हैं। लेकिन कोई उपाय नहीं था अतः गोपिकाएं यमुना के पास जाकर ऋषि दुर्वासा के कथन को दुहराती हैं और यमुना उस पार उन्हें जाने का मार्ग दे देती हैं। इस रहस्य को वे कृष्ण से पूँछती हैं, जिस पर कृष्ण तत्त्वदर्शियों को विषयभोग से सदैव अप्रभावित रहने की बात बताते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विषय भोग से सांसारिक लोग प्रभावित हुआ करते हैं जो तत्त्वदर्शी हैं वे तो त्यागपूर्वक जीवन जीने के अभ्यासी हुआ करते हैं, उनके द्वारा भोग (मात्र जीवन धारण के लिए) से कभी भी धर्म की हानि नहीं होती है। उक्त आख्यान में हम देख सकते हैं उनका व्यवहार तो सांसारिक है, लेकिन मन आध्यात्मिक। इसलिए भोजन करने पर भी वे भोजन से अप्रभावित हैं। इसीलिए महाकवि 'दण्डी' अपने 'दशकुमारचरित' में लिखते हैं कि तत्त्वदर्शियों के विषय भोग से धर्म में बाधा नहीं पहुँचती है। इसी ओर 'श्रीमद्भागवतपुराण 'में भी संकेत किया गया है–

जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्वुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्।[83]

आत्मा में रमण करने वाले जितेन्द्रिय विद्वान् को गृहस्थाश्रम में रहना क्या बुराई है अर्थात् नहीं। जितेन्द्रिय तत्त्वदर्शी संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त ही रहता है। वह विषय–भोग से कभी मोहित नहीं होता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

83 श्रीमद्भागवद्पुराण, 5/1/17

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।[84]

हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए (तत्त्वदर्शी) पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता है और अनन्त काल में भी इस ब्रह्म स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।

ननु धर्मादृतेऽर्थकामयोरनुत्पत्तिरेव।[85]

महर्षि मरीचि को स्वयं पर अनुरक्त जानकर वेश्या काममंजरी कहती है कि निश्चय ही धर्म के बिना अर्थ और काम की उत्पत्ति असम्भव है।

धर्म बहुत व्यापक शब्द है इसके द्वारा ही मनुष्य शुभ संकल्प युक्त होता है। यही संकल्प हमें पुरुषार्थ की ओर ले जाता है। जहाँ हम नियमपूर्वक जीवन जीने के लिए प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए कहा गया है–

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।।[86]

धर्म से अर्थ प्राप्त होता है। धर्म से सुख मिलता है। धर्म से मनुष्य सब कुछ प्राप्त करता है। इस संसार में धर्म ही सार तत्त्व है। धर्म के बिना इस संसार में कुछ भी श्रेयस्कर नहीं है। अर्थ और काम की सार्थकता धर्म से ही है। धर्म ही मनुष्य जीवन का मूल भाग है जिससे वह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को मंगलमय बनाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है–

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।[87]

श्रुति, स्मृति, सदाचार, अपने आत्मा को प्रिय कार्य तथा उचित संकल्प से उत्पन्न काम यही धर्म के मूल माने गये हैं। हमारे अर्थ और काम उचित संकल्प से उत्पन्न होने वाले हों तभी वे धर्म के स्वरूप बन पाते हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए 'कविदण्डी' लिखते हैं कि धर्म के बिना

---

84 श्रीमद्भागवद्गीता, 2/72

85 दशकुमारचरितम्, द्वितीयोच्छ्वास, उत्तरपीठिका, मो.ला.व.दा., पृ. 25

86 रामायण, अरण्यकाण्ड, 9/30

87 याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, 7

अर्थ और काम उत्पन्न नहीं होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि अर्थ और काम उचित माध्यम से न उत्पन्न हुए हों तो उनमें पुण्यता का अभाव रहता है और जो पुण्य न हो वह धर्म का स्वरूप भी धारण नहीं कर पाता है।

नान्यत्पापिष्ठतममात्मत्यागात्[88]

धनमित्र को समझाते हुए अपहारवर्मा कहते है कि आत्महत्या से बढ़कर अतिशय पापपूर्ण कार्य कोई दूसरा नहीं है।

भारतीय धर्म–दर्शन का यह उद्घोष है कि मनुष्य–शरीर हमारे कई जन्मों के पुण्यों का फल है और ईश्वर की अहैतुकीय कृपा से प्राप्त हुई है। इसका उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति करना है। मनुष्य इस धरा–धाम पर ईश्वर की भजन के निमित्त आता है, लेकिन जैसे–जैसे वह अपनी कालावधि व्यतीत करने लगता है वैसे–वैसे वह माया और मोह में इस भांति जकड़ जाता है कि उसके सम्मुख घोर अन्धकार व्याप्त हो जाता है। इस अवस्था में पहुंचकर वह ईश्वर के इस अनुपम उपहार को बहुत ही सस्ते में गवां बैठता है यानि अज्ञानता के कारण वह आत्महत्या कर बैठता है। जिसे अकाल मृत्यु भी कहा जाता है। जिसकी अकाल मृत्यु हो जाती है उसे प्रेत योनि मिलती है और नाना प्रकार के दुःख को सहना पड़ता है ऐसी हमारी भारतीय परम्परा कहती है। इसी अर्थ में आत्महत्या को पाप कर्म कहा गया है–

पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेनाभर्तृघ्न्यः कामगादिकाः।
सुराप्यआत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः।।[89]

जो पाखण्डी हो, किसी आश्रय में न रहने वाला अनाश्रित, चोर, पति को मारने वाली स्त्री, व्यभिचारिणी स्त्री, सुरापायी, आत्मघाती, ये सब उदकदान के अधिकारी नहीं है, इनका आशौच भी नहीं माना जाता है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार प्रेतकृत्य आदि उचित कर्म के लिए तदनुकूल उचित अधिकारी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उक्त कृत्य के सम्प्रदान विषयीभूत जो प्रेत (व्यक्ति) है उसे भी तभी उदकदानादि का अधिकारी माना जाता है जब उसका जीवन शास्त्रीय विचारों से या नियमों

---

88 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 45

89 याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, 6

से अनुशासित हो। अन्यथा वह उक्त शास्त्रीय क्रियाओं का सम्यक् भाजन नहीं है। इस प्रकार प्रकृत श्लोक में उन व्यक्तियों का निर्देश किया गया है, वे इन क्रियाओं तथा विद्याओं के अधिकारी नहीं है। इसलिए अनुचित उपायों के द्वारा आत्मघात को महापाप की श्रेणी में रखा गया है। हितोपदेश में सब कुछ छोड़कर अपनी रक्षा करनी चाहिए, सम्भवतः इसी सन्दर्भ के साथ कहा गया है–

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि।।[90]

आपत्तिकाल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए और धन को खर्च करके भी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए तथा स्त्री और धन दोनों को छोड़कर सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति में स्वयं की रक्षा करनी चाहिए और भी कहा गया है–

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तन्निघ्नता किं न हतं? रक्षता किं न रक्षितम्।।[91]

धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के मूल कारण प्राण ही हैं, जिसने अपने प्राणों का नाश किया उसने किस चीज का नाश नहीं किया? अर्थात् सबका नाश किया और जिसने अपने प्राणों की रक्षा की उसने किस की रक्षा नहीं की अर्थात् सबकी रक्षा की। इसलिए आत्मरक्षा से हमारे चारों पुरुषार्थ संरक्षित होते हैं और आत्महत्या से सब कुछ समाप्त हो जाता है। इसीलिए आत्महत्या को सबसे बड़ा पाप कहा गया है जैसा कि 'ईशावास्योपनिषद्' में भी उल्लिखित है–

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।[92]

असुरों के प्रसिद्ध लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःख–क्लेश महान अन्धकार से आच्छादित है। जो कोई आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं लोकों को बार–बार प्राप्त होते हैं अर्थात् उन्हीं लोकों में बार–बार जाते हैं।

---

90 हितोपदेश, मित्रलाभ, 43

91 वही, मित्रलाभ, 44

92 ईशावस्योपनि÷ाद्, 3

न ह्यलमतिनिपुणोऽपि पुरुषो नियतिलिखितां लेखामतिक्रमितुम्[93]

अत्यन्त निपुण पुरुष भी विधाता की लिखी हुई भाग्य रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सकता है।

विधाता का विधान अटल और शाश्वत होता है, उसे अत्यन्त शास्त्र निपुण व्यक्ति भी परिवर्तित नहीं कर सकता है। ईश्वर अनादिकाल से अपनी इसी महनीयता के कारण समाज में पूजित है। यदि मनुष्य उसके नियमों का अतिक्रमण करना सिद्ध करते तो ईश्वर की सर्वनियन्ता का सिद्धांत खण्डित होने लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि अत्यन्त निपुण पुरुष भी विधाता के विधान को बदल नहीं सकता है।

निखिलं दैवायत्तमेवावधार्य कार्यम्।[94]

सब कुछ भाग्य के अधीन समझना चाहिए।

मनुष्य का जीवन सदैव भाग्य के अधीन ही हुआ करता है, वह जितना चाहे कर्म कर लें परन्तु जो ईश्वर ने उसके भाग्य में लिख दिया है उसे उतना ही प्राप्त होता है–

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवाऽस्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्।।[95]

नीतिज्ञ पुरुष चाहे जितना इधर–उधर उद्योग करे, परन्तु फल वहीं होगा जो विधाता के मन में स्थित होगा। अर्थात् भाग्य में जो लिखा होता है वही होता है। भाग्य से बढ़कर कुछ नहीं है। इस संसार में यहाँ कर्म सिद्धांत का विरोध दिखलाई पड़ता है। हमारी संस्कृति का एक पक्ष कर्म सिद्धांत भी है, जो हमें कर्म करने की प्रेरणा देता है और यह घोषणा करती है कि कर्म से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। हमारा कर्म भाग्य को पोषित करता है। जिसका समर्थन भट्टनारायण वेणीसंहार में करते हैं–

सुतो वा सूत पुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्।[96]

93 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 183

94 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, प्रथमोच्छ्वास, पूर्व पीठिका, मो.ला.व.दा. पृ. 23

95 हितोपदेश, सुहृदभेद, 14

96 वेणीसंहार, 3/37

मैं सूत हूँ अथवा सूत का पुत्र हूँ या कोई भी हूँ, जन्म तो भाग्याधीन है हमारे अधीन तो पौरुष है, मैं जो चाहूँगा प्राप्त कर लूंगा। थक–हार कर कोई भी अपने परिश्रम को नहीं बल्कि भाग्य के अधीन सफलता को मान लेता है, यह कदापि उचित नहीं है। सफलता सदैव कर्माश्रित रहा करती है, भाग्याश्रित नहीं। यदि हमें सफलता नहीं मिली तो यही मानना चाहिए कि हमने ठीक से प्रयास नहीं किया।

''परकलत्रलङ्घनाद् धर्मपीडा भवेत्''[97]

उपहारवर्मा जब रानी कल्पसुन्दरी के शयन कक्ष में पहुंचाता है तो सोचने लगता है कि परनारी गमन से धर्म की छति होती है।

हमारी संस्कृति सदाचारण की शिक्षा देती है, इसके विपरीत जो भी आचरण हैं वह हमारे लिए त्याज्य हैं। स्वपत्नी के साथ ही शारीरिक सम्बन्ध हमारी संस्कृति में मान्य है। परनारी गमन हमारी संस्कृति में कभी भी उचित नहीं बताया गया है। हमारी संस्कृति में तो परनारी को माता का दर्जा दिया गया है–

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।[98]

जो मनुष्य दूसरे की स्त्रियों को अपनी माता की तरह समझे, दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का ढेला (टुकड़ा) समझे और प्राणिमात्र को अपनी ही तरह समझे वही पण्डित है, यानि बुद्धिमान है। ऐसे ही भाव हमारे धर्म एवं संस्कृति के प्राण हैं। ऐसे मानवीय मूल्यों से समाज में स्वस्थ परम्पराये स्थापित रहा करती हैं। यदि इसके विपरीत कोई आचरण करता है तो धर्म को क्षति पहुंचाता है। 'मृच्छकटिक' में तो परस्त्री दर्शन को भी निषेध किया गया है–

न युक्तं परकलत्र दर्शनम्[99]

'मनुस्मृति' में भी परनारी गमन का विरोध करते हुए कहा गया है–

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।

---

97 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, तृतीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 91

98 हितोपदेश, मित्रलाभ, 14

99 मृच्छकठिकम्, 1/56 के अनन्तर

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्।।[100]

इस लोक में पुरुष के लिए ऐसा आयु को नष्ट करने वाला दूसरा कार्य कोई नहीं है जैसा दूसरे की स्त्री का सेवन करना है। इसीलिए कविदण्डी ने परनारी गमन से धर्म–क्षति की बात कहते है।

परलोकभयं चैहिकेन दुःखेनान्तरितम्[101]

अपने पति विकटवर्मा असंतुष्ट कल्पसुंदरी कहती है कि परलोक का भय इस लोक के दुःख को ढक लेता है।

इस संसार में मनुष्य किसी भी प्रकार से जीवन यापन करता हुआ कठिन से कठिन समस्या का समाधान ढूढ़ता है, लेकिन धर्म विरुद्ध वह आचरण नहीं करता है, क्योंकि उसे ज्ञात है कि धर्म विरुद्ध कार्य करने पर परलोक में दण्डित होना पड़ता है। हमारी संस्कृति में परलोक की अवधारणा एक स्वस्थ परम्परा के रूप में आती है, जिससे समाज में एक स्वस्थ परम्परा का जन्म होता है। सभी लोग अपने द्वारा किये गये कार्यों का भलि–भाँति निरीक्षण करके ही उसे क्रियान्वित करते हैं। कर्म–सिद्धांत के अनुसार जैसा हम बोते है, वैसा ही काटते हैं। यह नियम नैतिक व्यवस्था को नियमित करता है। जिस प्रकार भौतिक क्षेत्र में निहित व्यवस्था की व्याख्या कारण नियम से हुआ करता है उसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में निहित व्यवस्था की व्याख्या कर्म सिद्धांत के द्वारा होता है। यही कर्म की अवधारणा शुभकर्मों के रूप में स्वर्ग और अशुभ कर्मों के रूप में नरक गमन की प्रबल अनुशंसा करती है। फलस्वरूप मनुष्य परलोक के भय से इस लोक में दुःख को सहन करता हुआ किसी प्रकार का सुख के लिए कुकृत्य नहीं करता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है–

एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीःस्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश् चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः।।[102]

जीव की धर्म से और अधर्म से होने वाली स्वर्ग–नरक मनुष्य लोकों की इन गतियों को अपनी ही बुद्धि से देखकर मनुष्य सर्वदा धर्म में ही

---

100 मनुस्मृति, 4/134

101 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, तृतीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा, पृ. 89

102 मनुस्मृति, 12/23

मन लगता है। वह अधर्म का परिणाम जानता है। इसलिए वह शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर धर्म का आश्रय लेना ही श्रेयष्कर समझता है।

बुद्धिहीनो हि भूभृदत्युच्छ्रितोऽपि
परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते[103]

मंत्रि वसुरक्षित राजा अनन्तवर्मा को समझाते हुए कहता है कि निश्चय ही बुद्धिरहित राजा अत्यन्त उन्नत होकर भी यह नहीं जान पाता कि दुश्मन मेरे ऊपर हावी हो रहा है।

राजा प्रजा का भाग्य विधाता होता है। उसके बुद्धि का परिणाम ही राज्य सुख है, लेकिन दुर्भाग्य से वह यदि बुद्धिहीन हो गया तब तो राज्य के लिए विपत्ति ही है क्योंकि बुद्धिहीन राजा को परराज्य के शत्रुओं के बलाबल का ज्ञान नहीं होता है। उसका अविवेक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि राज्य शत्रु के हाथों में चला जाता है। इसलिए बुद्धिमान राजा की हमारे शास्त्रों में प्रशंसा की गयी है। राजा की बुद्धि द्वारा सम्यक प्रकार से स्थापित दण्ड ही सबको प्रसन्नता देता है–

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस् तु विनाशयति सर्वतः।।[104]

सभी पक्षों का विचार कर ठीक प्रकार से प्रयुक्त करने पर दण्ड सभी प्रजा को प्रसन्न करता है। सभी पक्षों में ध्यान न देकर अनुचित रूप से प्रयुक्त करने पर दण्ड सब प्रकार से विनाश कर देता है। इसलिए राजा की बुद्धि इतनी परिष्कृत एवं शुद्ध होनी चाहिए कि उसके द्वारा किया गया काम प्रशंसित रहे अन्यथा राज्य का विनाश निश्चित है। इसीलिए 'कविदण्डी' कहते हैं कि निश्चय ही बुद्धिरहित राजा अत्यन्त उन्नत होकर भी नहीं जान पाता है कि दुश्मन उसके ऊपर हावी हो रहा है।

स्त्रीधर्मश्चैष यददुष्टस्य दुस्टस्य वा भर्तुर्गतिर्गन्तव्येति[105] **।**

पूर्णभद्र अर्थपाल से उसकी माता के लिए कहता है कि यह स्त्री का धर्म है कि पति भला हो, या दुष्ट हो उसी के रास्ते का अनुसरण करे।

---

103 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 414–415
104 मनुस्मृति, 7/19
105 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास, मौ.ला.व.दा., पृ. 127

भारतीय संस्कृति में स्त्री त्याग की प्रतिमूर्ति बतलायी गयी है। वह सदैव अपने त्यागपूर्ण जीवन से ही सबको रञ्जित करती है। स्त्री को कभी भी कुमार्ग गामी नहीं होना चाहिए। पति चाहे जैसा हो लेकिन पत्नी का यह कर्त्तव्य होता है कि वह सदैव पति के अनुकूल ही आचरण करे। जैसा कि 'मनुस्मृति' में कहा गया है–

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः।[106]

अच्छे स्वभाव से रहित होने पर भी सती स्त्री को सदैव पति का देवता की तरह आराधना करनी चाहिए। पति से विमुख होने पर एक स्त्री का लोक और परलोक सब नष्ट हो जाता है। इसलिए हमारे धर्मशास्त्रों में यही उपदेश दिया गया है कि पति की सेवा ही स्त्री के परम कल्याण का मार्ग है। मनुस्मृति में स्त्री जीवन के विषय में बहुत ही उपयुक्त तथ्य प्रस्तुत किया गया है–

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।[107]

विवाह का विधि ही स्त्रियों का वेदाध्ययन समझा जाता है। उनकी पति सेवा ही गुरूकुलवास है और उनका घर का काम करना ही अग्नि परिचरण है। 'महर्षि याज्ञवल्क्य' जी का मानना है–

स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः[108]

स्त्रियों को पति के वचन का पालन करना चाहिए, क्योंकि स्त्री का यही परम धर्म है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में एक स्थल पर कहा गया है कि जहां पति और पत्नी के परस्पर अनुकूलता होती है वहाँ त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम की वृद्धि होती है–

यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते।[109]

---

106 मनुस्मृति 5/154

107 वही, 2/67

108 याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, 77

109 याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, 74

इसीलिए हमारी संस्कृति में पति की सेवा एवं उसके प्रति सदैव अनुकूल रहना स्त्री का परम कर्त्तव्य माना गया है। यही सही अर्थ में दाम्पत्य भाव है। पति का भी यह कर्त्तव्य है कि स्त्री का सम्मान करे और सदा उसके अनुकूल रहे। पति एवं पत्नी दोनों एक गाड़ी के पहिये हैं इसलिए उनकी परस्पर अनुकूलता से ही दाम्पत्य की गाड़ी सहजता से गमन करती है।

श्रेयांसि च सकलन्यनलसानां हस्ते नित्यसांनिध्यानि[110]

सम्पूर्ण कल्याणों की उपस्थिति उनके हाथों में सदा रहती है जो आलसी नहीं है।

भारतीय संस्कृति में कर्म को पूजा बतलाया गया है, जो लोग सदैव अपने कार्य के प्रति दृढ़ निश्चयी रहते हैं उनकी सफलता निश्चित रहती है। इसीलिए श्रेष्ठ लोग सदैव अपने कार्य में संलग्न रहा करते हैं–

न दैवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति।।[111]

बुद्धिमान मनुष्य को अपना उद्योग कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि बिन: उद्योग किये तो तिल से तैल भी नहीं निकल सकता है। तिल में तैल अनिवार्य रूप से रहता है, लेकिन बिना परिश्रम का स्वतः तैल नहीं प्राप्त होता है। हमें उद्योग करना ही पड़ता है। 'हितोपदेश' में ठीक ही कहा गया है–

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैंवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः।।[112]

उद्योगशील पुरुषसिंह के पास स्वयं ही लक्ष्मी आती है। धन भाग्य से ही मिलता है, यह तो कायर (आलसी) पुरुष ही कहा करते हैं। इसलिए मनुष्य को भाग्य का भरोसा छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार

---

110 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 127

111 हितोपदेश कथामुखम्, 30

112 वही, 31

उद्योग करना चाहिए। यदि उद्योग करने पर भी कार्य की सिद्धि न होवे तो उद्योग में क्या दोष है इस पर विचार करना चाहिए, न कि कार्य को छोड़ना चाहिए। यथा–

उद्यमेन हि सिध्यान्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।[113]

कार्य की सिद्धि उद्योग से ही होती है केवल इच्छामात्र से ही नहीं क्योंकि सोये हुए भूखे सिंह के मुख में मृग स्वयं नहीं चले जाते हैं। यानि उसको भी शिकार पकड़ने के लिये यत्न करना पड़ता है। सिंह मृग को पकड़ने में यद्यपि समर्थ होता है परन्तु यदि आलस्य में पड़ा रहे तो मृग कदापि नहीं उसे प्राप्त हो सकता है। इसलिए आलस्य को त्याग करके कार्य करने की आवश्यकता होती है। महाकवि दण्डी उसी अर्थ में सम्पूर्ण कल्याण की उपस्थिति कार्य करने वाले लोगों के यहाँ मानते हैं आलसी के यहाँ नहीं।

---

113 हितोपदेश कथामुखम्, 36

समाजशास्त्रीयसूक्ति

सृष्टि के साथ ही समाज एवं संस्कृति की संरचना होने लगती है। मानव एक समाज के रूप में कार्य करने लगता है और धीरे–धीरे सामाजिक ढाँचा का निर्माण हो जाता है। यही 'सामाजिक ढाँचा' समाजशास्त्र की केन्द्रिय अवधारणा मानी जाती है। 'सामाजिक संरचना के अध्ययन में जिस ठोस यथार्थ पर हम विचार करते हैं, वह है किसी खास समय का यथार्थ में मौजूद संबंधों का समुच्चय, जो कुछ मानव प्राणियों को एक दूसरे से जोड़ता है। लेकिन वह आगे कहता है कि जिस विषय–वस्तु का हम वर्णन और विश्लेषण करने की कोशिश करते हैं, वह संरचनात्मक रूप है अर्थात् थोड़े बहुत भेदों और शामिल व्यक्तियों पर ध्यान न देकर सामान्य सम्बन्धों पर विचार करना है। उसी संरचनात्मक रूप को कई लेखकों सामाजिक संरचना कहां हैं।'[114] लेकिन कुछ लेखकों की दृष्टि में सामाजिक संरचना के स्थान पर सामाजिक संगठन शब्द उपयुक्त प्रतीत होता है। सामाजिक संगठन का अर्थ भी हमें कही न कही समाजशास्त्र के मूल विषय से जोड़ता है, क्योंकि मनुष्य का संगठित स्वरूप ही समाज है, समाज किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बल्कि समान विचार धारा से मेल रखने वाले अनेक व्यक्तियों का समूह है। इन्हीं व्यक्तियों के समूह के विविध पक्षों का विश्लेषण करने वाला शास्त्र, समाजशास्त्र कहलाता है।

समाजशास्त्र दैनन्दिन मानव क्रियाओं का समूह है। जिसका फल मानव मात्र का कल्याण करना और उसका चतुर्दिक विकास करना है। समाज ही मनुष्य में मनुष्यत्त्व का बोध कराता है। वह मनुष्य को मानसिक, आत्मिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विशिष्टता प्रदान करने वाला कोश है, जिसकी झलक स्वर्ग में प्रतिबिम्बित होती है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के विविध आचार–विचारगत समस्याओं पर प्रकाश तथा उसके निराकरण के

114 बॉटमोर टी.वी., अनुवादक–गोपाल प्रधान, समाजशास्त्र समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, पृ. 105

उपाय बतलाये जाते हैं। समाज ही हमारे कर्मों का प्रेरणास्रोत होता है। उसी के द्वारा हमारी शुभ में प्रवृत्ति एवं अशुभ से निवृत्ति होती है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में श्रेष्ठ समाज–संगति की प्रशंसा की गयी है–

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघञ्चुलुकीकरोति।
भूतेषु किञ्च करुणां बहुलीकरोति
संगः सतां किमु न मंगलमातनोति।।[115]

सत्पुरुष का संग कौन सा कल्याण नहीं करता है? जैसे कि दुर्बुद्धि को दूर करता है, चित्त को निर्मल करता, चिरकाल के पाप को चुल्लू बना देता है अर्थात् धो डालता है और प्राणियों के प्रति करुणा का विस्तार करता है, इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रेष्ठ पुरुषों का संग मनुष्य का सब प्रकार से कल्याण कर उसकी मलिनता को धो डालता है, उसके अन्दर सद्गुणों का विकास कर देता है। मनुष्य जब तक समाज का हिस्सा नहीं बनता है, तब तक उसके गुण भी शोभास्पद नहीं होते हैं। अतः मनुष्य का समाज में रहना अत्यन्त आवश्यक है–

वंशभवो गुणवनापि संगविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम्।।[116]

वंशोद्भूत होने पर भी मनुष्य संगति विशेष के ही कारण पूजित होता है। क्योंकि वीणा का दण्ड तुम्बीफल (तुमड़ी) से रहित होने पर महत्त्व को नहीं प्राप्त करता है। इसलिए मनुष्य समाज से ही श्रीवान् होता है। समाज ही मनुष्य का कवच एवं अलंकार है। इसलिए समाज को विविध रूप से उपदेशित करने का कार्य हमारे शास्त्रकारों द्वारा किया गया है। समाज में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध, मानवमूल्य सदाचार, शिक्षा–संस्कृति का बहुत ही महत्त्व है। महाकवि दण्डी सदैव एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते है। इसलिए उनकी कृतियों में पदे–पदे सामाजिक बुराई का उद्घाटन एवं स्वस्थ विचार–धाराओं के जन्म देने के लिए प्रयत्न किया गया है। महाकवि दण्डी के मत में समाज ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी प्रकार का न आडम्बर हो और न किसी प्रकार की औपचारिकता

115 भामिनीविलासः, 119
116 वही, 78

ही हो। वे एक नैतिक समाज पर बल देते हैं, जहाँ चारों ओर सदाचार और पारम्परिक मूल्य की पैठ गहरी जमी हो। वे सदैव धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग के सम्यक् सेवन की बात करते हैं, उनका मानना है कि धर्म, अर्थ और काम के पारस्परिक मधुर सम्बन्ध से ही इस संसार की स्थिति मजबूत और स्थायी हो सकती है।

कवि जिस समाज या परिवेश में रहता है उस परिवेश विशेष का प्रभाव उसके कृतियों में स्पष्ट रूप से पड़ता है। वह अपने सामाजिक व्यवहार से अलग होकर काव्य–सृष्टि नहीं कर सकता है तत्युगीन सामाजिक व्यवहार को काव्य में अनुस्युत कर के कवि काव्य मर्यादा का पालन करता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका काव्य, लोक से भिन्न दिखाई देने लगता है और उसमें काव्य–मूल्य ओझल हो जाता है। अतः कवि अपने काव्य में सदैव लोक की बात करता है। इसी आधार पर दण्डी की कृतियों में उल्लिखित समाजशास्त्रीय सूक्तियों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

महाकवि दण्डी उस युग के विभूति हैं जिस युग में समाज वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, पुरुषार्थ, संस्कार एवं सदाचार से संयमित होकर जीवन–पथ को सुव्यवस्थित करता था। समाज का प्रत्येक कार्य इन्हीं निकषों पर अवलम्बित होता था। फलतः समाज का अधोपतन नहीं होता था। दण्डी अपनी रचनाओं में स्वस्थ समाज एवं असभ्य समाज दोनों का वर्णन किये हैं, जिसका मात्र उद्देश्य इस धरा–धाम पर स्वस्थ समाज की स्थापना ही है। दोनों समाज का वर्णन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि जब तक व्यक्ति दोनों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं कर लेता है, तब तक उसकी बुद्धि स्वस्थ समाज को कमतर करके ही देखती है। वस्तुतः वर्ण– आश्रम, पुरुषार्थ संस्कार और सदाचार समाज के आधारभूत तत्त्व हैं, जिनसे जीवन की उज्ज्वल सुदीर्घ परम्परा चलती है। स्त्री–पुरुष इन्हीं तत्त्वों से अनुशासित होकर स्नेहमय दाम्पत्य का बोध करते हैं। अनुशासन, सदाचार समाज को त्याग की शिक्षा देता है। जहाँ त्याग है वहाँ आनन्द, जहाँ भोग है वहाँ दुःख। इसी संस्कृति से अनुप्राणित हो महाकवि दण्डी अपने कृतियों में समाजशास्त्रीय सूक्तियों को प्रस्तुत किये हैं, जो मानव–मूल्य की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी हैं।

अखिलकार्यनिमित्तं वित्तं निश्चित्य[117]

राजावाहन का अन्वेषण करता हुआ रत्नोद्भव विचार करता है कि सभी कार्य धन से सिद्ध होते हैं।

पुष्पोद्भव राजवाहन की खोज करता हुआ यह विचार करता है कि इस संसार के सभी कार्य धन से ही सिद्ध होते हैं, अतः धन की प्राप्ति करनी चाहिए। मनुष्य इस संसार में अपनी सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति धन से ही करता है। धन के बिना मनुष्य का जीवन पङ्गु के समान हो जाता है, परन्तु यह भी ध्यान होना चाहिए कि धन का अर्जन उचित माध्यमों के द्वारा ही होना चाहिए। इसके विषय में मनुस्मृति में कहा गया है–

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर् हि स शुचिर् न मृद्वारिशुचिःशुचिः।।[118]

सभी प्रकार के शौचों में धन का शौच यानि धनोपार्जन के उपाय की शुद्धता को बड़ा समझा गया है। जो धन में शुद्ध है, वही शुद्ध है, केवल मिट्टी से और पानी से शरीर की शुद्धि करने वाला मनुष्य शुद्ध नहीं है। वास्तविक शुद्धता तो धनोपार्जन की ही शुद्धता है। अनुचित माध्यम से अर्जित किया गया धन कभी भी श्रेयस्कारी नहीं होता है। धन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए महाभारत में भी कहा गया है–

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः।।[119]

धन को परम धर्म कहा गया है। धन में सब कुछ विराजमान है। समाज में धनी मनुष्य ही जीवित है। निर्धन तो मृत प्राय है। यहाँ वेदव्यास यही कहना चाहते हैं कि धन ही मनुष्य–जीवन की सर्वोत्तम वस्तु है, जिसके द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। धन का अभाव मनुष्य–जीवन के लिए अभिशाप के समान है। निर्धनता के विषय में 'मृच्छकटिक' में कहा गया है–

---

117 दशकुमारचरितम्, पूर्वपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 85

118 मनुस्मृति, 5/106

119 महाभारत, उद्योगपर्व, 70/23

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति।।[120]

निर्धनता ही पुरुषों की चिन्ता का घर है। परम अनादर का कारण है। दूसरी अनोखी शत्रुता है। मित्रों की घृणा, स्वजन तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है। वन में चले जाने वाला मन है और पत्नी द्वारा भी तिरस्कार है। यह हृदय में स्थित शोकानल भस्म नहीं कर देता बल्कि सन्तप्त करता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि धन के अभाव में मनुष्य का जीवन दुःखमय हो जाता है। इसलिए धन का जीवन में अत्यधिक महत्त्व होता है। उसके बिना मनुष्य कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाता है। जैसा कि नीतिशतक में भी बताया गया है–

यास्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनामाश्रयन्ति।।[121]

इस संसार में जिसके पास धन है वही कुलीन, विद्वान, ज्ञानी, गुणों का ज्ञाता, वक्ता और रूपवान या दर्शन के योग्य माना जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि सभी गुण सुवर्ण अथवा धन का ही आश्रय लेते हैं। जो धनवान् है आज समाज में उसी को आदर और सम्मान मिलता है। हर जगह उसी को पदासीन किया जाता है। उत्सव–महोत्सव भी धनवानों के लिए ही है, धन ही पृथ्वी–सुख का मूल है। इसीलिए धन के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है–

अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन रक्षयेत।
पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत।।[122]

अर्थात् अप्राप्त धन को धर्म से प्राप्त करने की कामना करें जो प्राप्त है उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करें और जो रक्षित है, उसकी नीतिपूर्वक

---

120 मृच्छकटिकम, 1/15

121 नीतिशतकम्, 41

122 याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, 317

वृद्धि करें तथा पात्रों में लगायें यानि उसका सदुपयोग करें। धन का कभी भी दुरुपयोग न करें। धन का जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

अनर्थेषु सुलभव्यलीकेषु[123]

मंत्री वसुरक्षित विश्रुत से कहता है कि विपत्तियों में पीड़ाएं सुलभ होती हैं। यह संसार त्रिविध दुःखों से परिपूर्ण है, इसमें रहने वाला प्रत्येक प्राणी किसी न किसी रूप में दुःख का अनुभव करता रहता है। यह दुःख कभी बढ़ जाता है और कभी सामान्य अवस्था में रहकर भी प्राणी को सन्ताप देता रहता है। मानव जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं आती हैं जिनसे शारीरिक और मानसिक अवसादों से ग्रसित होता है। अपने अवसाद के शमन हेतु वह प्राण–प्रण से प्रयत्न करता है, लेकिन उसी समय उसके सम्मुख अन्य आपत्तियाँ भी आ जाती हैं। इसीलिए महाकविदण्डी लिखते हैं कि विपत्तियों में पीड़ाएँ सुलभ हो जाती हैं। इस सन्दर्भ में यदि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन की ओर ध्यान दिया जाय तो यह तथ्य और स्पष्ट हो जाता है। वाल्मीकीय रामायण में स्वयं राम कहते हैं–

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि।।
सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम्।
सीतावियोगातपुनरप्युदीर्णं काष्ठेरिवाग्निः सहसोपदीप्तः।।[124]

पहले तो मैं राज्य से वञ्चित हुआ फिर मेरा स्वजनों से वियोग हुआ। तत्पश्चात् पिताजी का परलोकवास हुआ फिर माता से भी बिछड़ जाना पड़ा। लक्ष्मण ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं तब मेरे शोक के वेग को और अधिक बढ़ा देती हैं। लक्ष्मण! वन में आकर क्लेश का अनुभव करके भी यह सारा दुःख सीता के समीप रहने से मेरे शरीर में ही शान्त हो गया था, परन्तु सीता के वियोग से वह फिर उद्दीप्त हो उठा है। जैसे सूखे काठ का संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है। यहाँ भी यही दिखलाया गया है कि एक के बाद एक विकट विपत्तियाँ कैसे उत्पन्न हो रही हैं और मनुष्य इनसे लड़ता हुआ अपना जीवन कैसे यापन कर रहा है? राम अभी सीता के दुःख का शमन भी नहीं कर पाये थे कि लक्ष्मण

---

123 दशकुमारचरितम्, पूर्वपीठिका, अ÷टयोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 254

124 वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड, 63/5–6

को शक्ति लगने पर पुनः वे विपत्ति के सागर में डूब जाते हैं। अनन्तर धीरे–धीरे सब ठीक हो जाता है। इन आख्यानों से यह प्रेरणा मिलती है कि विपत्तियाँ तो आती हैं और चली भी जाती हैं, नई सीख के साथ, नये उत्साह के साथ। विपत्तियों से मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए, जो विपत्तियों का दृढ़ता से सामना करता है वही धीर एवं गम्भीर है।

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम्।
अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम्।।[125]

विद्याओं का अभ्यास न करने से, बुद्धिमानों के असंसर्ग से एवं इन्द्रिय संयम के अभाव से मनुष्यों में दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य के अन्दर सुप्रवृत्ति तीन प्रकार से उत्पन्न होती है– प्रथम तो विद्याभ्यास से, द्वितीय इन्द्रिय संयम से और तृतीय सत्संगति से। यदि कोई विद्याभ्यास व इन्द्रिय संयम न करें और न विद्वानों के संसर्ग में रहे तो उसमें दुष्प्रवृत्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। 'हितोपदेश' में भी कहा गया है कि–

अनभ्यासे विषं विद्या[126]

बिना अभ्यास की विद्या विष समान हो जाती है। विद्या के निरन्तर अभ्यास से ही मानव मन में सुप्रवृत्ति का आविर्भाव होता है। यदि विद्या का बार–बार अभ्यास न किया जाय तो वह उपाहास का कारण बनती है। इसलिए विद्या का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। महाकवि कालिदास भी 'रघुवंश' महाकाव्य में लिखते हैं कि–

विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादपितुमर्हसि।[127]

विद्या अभ्यास से ही प्राप्त होती है। अतः मनुष्य को निरन्तर विद्याभ्यास के द्वारा अपने जीवन को संयमित बनाना चाहिए। संयमित व्यक्ति अपने जीवन को सुखी रख पाता है। विद्या से ही मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है–

---

125 काव्यादर्श, 2/247

126 हितोपदेश, मित्रलाभ, 22

127 रघुवंश, 1/88

विद्ययामृतमश्नुते[128]

इसीलिए मनुष्य जीवन में विद्या का अत्यन्त महत्त्व है, विद्या (ज्ञान–विज्ञान) के बिना मनुष्य का पतन हो जाता है। यदि मनुष्य अपने जीवन में श्रेष्ठ लोगों के सानिध्य में न रहा हो तो उसमें उचित और अनुचित का व्यवहारबोध ही उत्पन्न नहीं हो पाता है। उसमें संस्कार एवं कुसंस्कार के भेद का ज्ञान नहीं हो पाता है मनुष्य स्वाभाविक रूप से बुराई की ओर ही उन्मुख हो जाता है। नीतिशतक में सत्संगति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मनोन्नति दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिशु तनोति कीर्ति
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।[129]

सत्संगति बुद्धि की मन्दता को दूर करती है, वाणी में सत्यता पल्लवित करती है। ऊंचा सम्मान प्रदान करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है तथा दिशाओं में यश फैलाती है। बताओ सज्जनों का साथ पुरुषों के लिए क्या नहीं करता है अर्थात् सब कुछ करता है। इसीलिए तो हमारे समाज की लोक प्रचलित उक्ति है– 'संगत से गुण होत है संगत से गुण जात' कहने का भाव है कि यदि मनुष्य सत्संगति में रहता है तो उसके अन्दर सद्गुणों का समाबेश हो जाता है और यदि वह कुसंगति में रहता है तो उसमें अवगुणों का स्वाभाविक रूप से समावेश होता है, इसलिए मनुष्य को श्रेष्ठ संगति में ही रहना चाहिए।

मनुष्य के जीवन में इन्द्रिय–संयम का भी बहुत महत्त्व है। संयमित मनुष्य ही लोक में स्थाई रहता है। इसके विषय में मनुस्मृति में कहा गया है–

तेभ्योऽधिगच्छेद् विनयं विनीताऽऽत्मापि नित्यशः।
विनीताऽऽत्मा हि नृपतिर् न विनश्यति कर्हिचित्।।[130]

128 ईशावास्योपनिषद्, 11

129 नीतिशतक, 23

130 मनुस्मृति, 7/39

वशीकृत मन से युक्त होने पर भी राजा उन शुद्ध हृदय वाले वेदज्ञ वृद्ध ब्राह्मणों से शरीर इन्द्रिय–मन का वशीकरण सर्वदा सीखता रहे, क्योंकि वशीकृत मन से युक्त राजा का (मनुष्य का) कभी विनाश नहीं होता है। इसलिए मन एवं इन्द्रिय को सदैव संयमित ही रखना चाहिए। असंयमित इन्द्रिय के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।[131]

जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। इस प्रकार इन्द्रियसंयम के अभाव में मनुष्य पथभ्रष्ट हो जाता है। फलतः आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा कि विद्याओं के अनभ्यास से बुद्धिमानों के असंसर्ग से एवं इन्द्रिय संयम के अभाव में मनुष्य के अन्दर दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

अपण्डिताः पुनरर्जयन्त एव ध्वंसन्ते[132]

विहारभद्र राजा अनन्तवर्मा को समझाते हुए कहता है कि अज्ञानी लोग जीवन भर धन कमाते–कमाते समाप्त हो जाते हैं।

कहने का भाव यह है कि जो लोग अज्ञानी हैं, माया–मोह में फसे हुए हैं तथा भौतिक सुखों को ही सर्वस्व मानने वाले हैं, उनका जीवन निरन्तर दुःखों से भरा होता है। कठोपनिषद् में भी इस तथ्य का उल्लेख श्रेय–प्रेय मार्ग के रूप में किया गया है। श्रेय मार्ग का पथिक तो आत्मानुरागी होता है। वह संसार के सुख वैभव का त्याग कर ब्रह्म में लीन रहता है। लेकिन प्रेय मार्ग का पथिक इसी संसार के भौतिक सुखों से मोहित होकर जीवन भर कष्ट भोगता है–

अन्यच्छ्रेयो योऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषंसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।[133]

इस प्रकार अज्ञानी लोग इस संसार की वस्तुस्थिति को ठीक प्रकार से न समझ सकने के कारण जीवन भर धन की लालसा में मोहित होकर

131 श्रीमद्भगवद्गीता, 2/67
132 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 251
133 कठोपनिषद, 1/2/1

कष्ट भोगते हैं। इसी तथ्य का उद्घाटन ईशावास्योपनिषद् में भी किया गया है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः।।[134]

जो अज्ञानी मनुष्य भौतिक जगत् की योग्य वस्तुओं में आसक्त होकर अविद्या (अज्ञान) का आश्रय लेकर जीवन यापन करता है। वह अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण नाना योनियों को प्राप्त करता है और विविध भोगों (कष्टों) को भोगता रहता है। ऐसे अपण्डित लोग अज्ञान के कारण परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते हैं और उसका परिणाम यह होता है कि वे अनन्त काल तक जन्म–मृत्यु के इस भवबन्धन में चक्कर काटते हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। इस प्रकार कवि दण्डी अपण्डित जन को संसार की वास्तविक स्थिति से परिचय कराकर उन्हें सत्य बोध कराने का प्रयास किये हैं।

अपत्योत्पादनेनोभयलोकश्रेयस्करत्वमिति[135]

विहारभद्र अगंनाओं के साथ रमण करने का फल बताते हुए कहता है कि सन्तानोत्पत्ति से इहलोक और परलोक दोनों ही श्रेयस्कर होते हैं।

हमारे धर्मशास्त्रों में पुत्र जन्म का अत्यधिक महत्त्व है। जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित 'शुनः शेप' आख्यान में कहा गया है–

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्त्वं च गच्छति।
पितापुत्रस्यजातस्यपश्येच्चेज्जीवतोमुखम्।।[136]

उत्पन्न हुए जीवित पुत्र के मुख को यदि पिता देख लेता है तो वह अपने लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार के ऋणों को उसमें भली–भाँति स्थापित कर देता है और पिता उऋण होकर अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। पुत्रार्ति लौकिक एवं वैदिक भार से वियुक्त होकर तत्त्व ज्ञान के सम्पादन से वह अमर हो जाता है। यहाँ पुत्र का पिता के जीवन में महत्त्व

---

134 ईशावास्योपनिषद्, 9

135 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 432

136 ऐतरेयब्राह्मण, 33/1/3

प्रतिपादित किया गया है। पिता के लिए पृथ्वी के सम्पूर्ण भोगों में पुत्ररत्न की प्राप्ति ही उत्तम वस्तु मानी जाती है–

यावन्तः पृथिव्यां भोगा, यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान्पुत्रे पितुस्ततः।।[137]

इस पृथिवी के जितने भी भोग हैं, जितने भोग अग्नि के हैं और जितने भोग जल से सम्बन्धित हैं, पिता के लिए इन सब भोगों से श्रेष्ठ पुत्र का भोग है। कहने का भाव है कि इस संसार की सबसे उत्तम वस्तु पुत्र है। पुत्र के बिना सब भोग–विलास निरर्थक हैं–

नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति, तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात् पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति।।[138]

बिना पुत्र वाले के लिए लोक नहीं है अथवा इस संसार के अन्य सभी सुख या परलोक नहीं है। जो पुत्र दर्शन का सुख है वह अपुत्र कभी नहीं देता, इस तथ्य को सभी पशु जो महिषि आदि भी जानते हैं, इसीलिए पशु–जाति में उत्पन्न हुआ पुत्र अपनी माता और बहन को भी पुत्रोत्पत्ति के लिए धारण करता है। यानि पुत्र प्राप्ति के लिए वह किसी मर्यादा का पालन नहीं करता, वह सब कुछ छोड़ देता है क्योंकि वह अविवेकशील प्राणी है, जबकि मनुष्य विवेकवान है इसलिए वह मर्यादा में रहकर ही पुत्र प्राप्ति की इच्छा रखता है। मृच्छकटिकम् में भी कहा गया है–

शून्यमपुत्रस्य गृहं[139]

पुत्रहीन का घर सूना हुआ करता है, कहने का भाव यह है कि जिसके घर पुत्र नहीं होते हैं वहां किसी प्रकार की प्रसन्नताएं नहीं होती हैं। कालिदास रघुवंश महाकाव्य में भी लिखे हैं–

सन्तति शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे[140]

शुद्ध वंश की सन्तान इस लोक और परलोक में सुख के लिए होती है। इस लोक में पुत्र के द्वारा ही पिता को सुख मिलता है और परलोक

---

137 ऐतरेयब्राह्मण, 33/1/4
138 वही, 33/1/11
139 मृच्छकटिकम्, 1/8
140 रघुवंशम्, 1/39

में भी श्राद्ध–तर्पण के द्वारा पिता पुत्र से सुख प्राप्त करता है। 'महाभारत' में भीष्मपितामह ने पुत्र को सबसे बड़ा धर्म कहा है–

सन्तानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः[141]

सन्तान ही पृथ्वी के सम्पूर्ण धर्म–कर्म का नियामक होता है, इसी अर्थ में उसे परमधर्म माना गया है। महाभारत में पुत्र प्रेम के विषय में कहा गया है–

पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते[142]

पुत्र स्पर्श से बढ़कर सुख देने वाला दूसरा स्पर्श संसार में नहीं है। महाकविभवभूति सन्तान को अनुपम प्रेम की गाँठ कहे हैं–

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते।।[143]

पति और पत्नी के हृदयरूपी तत्त्व के प्रेम का आश्रय होने के कारण सन्तान यह अनुपम सुख की गाँठ कही जाती है। कहने का भाव है कि पति और पत्नी के मध्य सन्तान आनन्द की चरम सीमा है। पुत्र शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य मनु ने लिखा है–

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्त्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा।।[144]

पुत नाम नरक में पड़ने से पिता को बचाता है इसलिए ब्रह्मा जी स्वयं ही पुरुष सन्तान को पुत्त्र कहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति में पुत्र के द्वारा पिता को आनन्द, सुख–समृद्धि एवं कल्याण की प्राप्ति होती है।

अविश्वास्यता हि जन्मभूमिरलक्ष्म्याः[145]

सेवक विहारभद्र राजा अनन्तवर्मा को समझाते हुए कहता है कि अविश्वसनीय होना निश्चय ही सम्पत्ति अभाव की जन्मभूमि है।

---

141 महाभारत, आदिपर्व 45/15
142 वही, आदिपर्व, 74/57
143 उत्तरामचरितम्, 3/17
144 मनुस्मृति, 9/138
145 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 249

मनुष्य जीवन में एक दूसरे के प्रति विश्वास का होना समृद्धि का द्योतक है। जहाँ अविश्वास होता है, वहाँ निर्धनता का जन्म होता है। इसलिए अविश्वास को असमृद्धि का द्योतक माना गया है। विश्वास और अविश्वास का चक्र परिवार से लेकर राष्ट्र तक प्रतिष्ठित है। विहारभद्र के द्वारा अनन्तवर्मा के हृदय में धर्मशास्त्र इत्यादि के विषय में अविश्वास हो गया है। इसी अविश्वास के सम्बन्ध में वह कहता है कि अविश्वसनीय होना निश्चय ही सम्पत्ति अभाव की जन्मभूमि है। कहने का भाव यह है कि शास्त्र पर अविश्वास किसी भी राजा के लिए हितकारी नहीं हो सकता है। राजा को शास्त्र व गुरूपदेश आदि पर परम विश्वास रखने की आवश्यकता होती है क्योंकि राजा शास्त्ररूपी नेत्र से ही प्रजा पालन करता है। इसलिए मनुष्य के जीवन में शास्त्र इत्यादि का अत्यधिक महत्त्व है। शास्त्र के प्रति अविश्वास किसी भी दृष्टि से शुभ नहीं है।

अविमृश्यकारिणां हि नियतमेनकाः पतन्त्यनुशयपरम्पराः[146]

शक्तिकुमार गुणवती कन्या की खोज करता हुआ विचार करता है कि यह पूर्ण निश्चित है कि बिना विचारे काम करने वालों के ऊपर अनेक पश्चाताप की परम्परायें गिरती हैं।

मनुष्य को सदैव सम्यक प्रकारेण विचारपूर्वक ही कोई काम करना चाहिए, क्योंकि विचार न करके किये गये कार्य पीछे पश्चाताप करना पड़ता है। जैसा कि हितोपदेश में कहा गया है–

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विवृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।[147]

शीघ्रता से कोई काम न करें, क्योंकि बिना विचारे कार्य करना बड़ी भारी विपत्ति का कारण होता है और विचार करके कार्य करने वाले के पास उसके गुणों से लुब्ध हुई सम्पत्तियाँ स्वमेव चली आती हैं। अतः मनुष्य को प्रत्येक कार्य के शुभाशुभ का विचार करके ही कुछ निर्णय लेना चाहिए। इस तथ्य को रामायण की एक घटना से और मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ। राम, लक्ष्मण और सीता जंगल में निवास कर रहे होते हैं। भरत, राजा

146 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 190
147 हितोपदेश, सन्धि, 104

राम से मिलने और उनका राजतिलक करने के लिए सम्पूर्ण सैन्य शक्ति के साथ वन में आते हैं। उन्हें आते देखकर भ्रातृप्रेमी लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है और वे भरत का सम्पूर्ण सेना सहित संहार करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परन्तु श्रीराम के आग्रह से वे रुकते हैं। जब भरत, राम के सम्मुख पहुँचते हैं तो उनके चरणों में गिरकर क्षमा–याचना मांगते हुए अपनी निर्दोषता की शपथ लेने लगते हैं, तब लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति उत्पन्न द्वेष पर बहुत पश्चाताप होता है। यदि राम के मन में भी भरत के प्रति लक्ष्मण के समान भाव आ गया होता तो भरत जैसे निरपराध भ्राता युद्ध में मारा जाता इसलिए मनुष्य को कभी भी बिना विचार किये कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

अवसरेषु पुष्कलः पुरुषकारः[148]

राजवाहन मित्रगुप्त के साहस भरे कार्यों को जानकर कहता है कि समय पर किया गया कार्य ही पुरस्कृत होता है।

मनुष्य के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं आती रहती हैं जिसमें समय का अत्यधिक महत्त्व रहता है। उस समय के सापेक्ष में नियत समय पर किया गया कार्य ही मनुष्य को पुरस्कृत करता है। इसलिए हमारे जीवन में समय का बहुत महत्त्व है–

कालो हि सकृदभ्येति यन्नरं कालकांक्षिणाम्।
दुलर्भः स पुनस्तेन कालकर्माचिकीर्षता।[149]

समय की अपेक्षा रखने वाले मनुष्य के लिए समय एक बार आता है। समय आने पर काम न करने वाले के लिए पुनः अच्छा समय दुर्लभ है। इसी विषय में महाकवि माघ भी लिखते हैं–

इति निश्चितप्रियतमागतयः सितदीधिता वुदयवत्यबलाः।
प्रतिकर्म कर्त्तुमुपचक्रमिरे समये हि सर्वमुपकारि कृतम्।।[150]

चन्द्रमा के उदय होने पर जिनके प्रियतमों का आना निश्चित था ऐसी रमणियाँ श्रृंगार करने के लिए प्रवृत्त हो गयी हैं, क्योंकि समय पर किया गया सब कार्य उपकारक हुआ करता है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य

148 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 212
149 पंचतन्त्र, 3/129
150 शिशुपालवधम्, 9/43

के सदैव समय का ध्यान रखना चाहिए। समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता है बल्कि हमें समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए और उसके अनुरूप कार्य का सम्पादन भी करना चाहिए, समय से किया गया कार्य उसी अर्थ में पुरस्कृत होता है अन्यथा निरर्थक हो जाता है।

अवज्ञासोदर्य दारिद्रयम्[151]

जिसकी बहन तिरस्कार है वह गरीबी है।

इस संसार में धनवान् और धनहीन दो तरह के लोग रहा करते हैं। लेकिन दोनों के सामाजिक स्तर में पर्याप्त अन्तर होता है। धनवान को सभी जगह सम्मान मिलता है और धनहीन को अपमान। कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि धनहीन के साथ ही अपमान उत्पन्न हुआ है, क्योंकि वह जहाँ भी जिस अवस्था में रहता है अवज्ञा उसका साथ नहीं छोड़ती है। हर जगह उसे अपमान का सामना करना ही पड़ता है। इसी विषय में महाकवि शूद्रक लिखते हैं–

दारिद्र यादिध्रयमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकोपहितो बुद्धया परित्यज्यते
निर्बुद्धि क्षेयमेत्यहो निर्धनता सर्वापदामास्पदम्।।[152]

दरिद्रता से मनुष्य लज्जा को प्राप्त होता है, लज्जा को प्राप्त हुआ व्यक्ति तेज से रहित हो जाता है, तेजहीन अपमानित होता है। अपमान से ग्लानि को प्राप्त हो जाता है। ग्लानि अथवा शोकाकुल व्यक्ति को विवेक के द्वारा त्याग दिया जाता है और विवेक शून्य मनुष्य का नाश हो जाता है। अतः निर्धनता सब आपदाओं का निवास स्थान है। इसके विषय में आगे भी 'शूद्रक' लिखते हैं–

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति।।[153]

151 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 45
152 मृच्छकटिकम्, 1/14
153 मृच्छकटिकम्, 1/15

हे मित्र! दरिद्रता ही पुरुषों की चिन्ता का घर है, परम अनादर का कारण है, दूसरी शत्रुता है। मित्रों की घृणा है, स्वजनों तथा अन्य लोगों के द्वेष का कारण है। इसके कारण वन में चले जाने का मन होता है और पत्नी द्वारा भी तिरस्कार होता है। हृदय में स्थित शोकानल भस्म नहीं करता प्रत्युत सन्तप्त करता रहता है। इस प्रकार कवि दण्डी द्वारा प्रयुक्त गरीबी के विषय में सूक्ति अपमान के लिए चरितार्थ होती है।

कः सचेतनः स्त्रियमभिकामयमानां नाभिनन्दति[154]

उपहार वर्मा कल्पसुंदरी से अपना प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहता है कि चाहने वाली स्त्री को कौन प्राणी नहीं अपनाता है?

यदि कोई स्त्री किसी पुरुष की कामना रखती है तो पुरुष स्वाभाविक रूप से उसके ऊपर आसक्त हो जाता है क्योंकि काम–वासना के प्रति लालायित पुरुष को मनोवांछित भोग प्रिय ही हुआ करता है। इसके विषय में 'कालिदास' अपने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में लिखते हैं–

अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु! यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत।।[155]

अयि भीरू! तुम जिससे अपमान की आशंका करती हो वह तुम्हारे संगम के लिए तैयार बैठा है। प्रार्थयिता लक्ष्मी को प्राप्त कर सके अथवा न कर सके किन्तु जिसको लक्ष्मी प्राप्त करना चाहे वह कैसे दुष्प्राप्य हो सकता है। यहाँ लक्ष्मी शब्द शकुन्तला के लिए आया है, शकुन्तला यानि एक स्त्री जब किसी पुरुष की कामना करती है तो पुरुष सद्यः उसके सन्निकट आ ही जाता है क्योंकि रत्न किसी को नहीं खोजता लोग रत्न (स्त्री की कामना) को ही ढूढ़ा करते हैं–

अपं स यस्मात प्रणयावधीरणा
मशङ्कनीयां करभोरू! शङ्कसे।
उपस्थितिस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।।[156]

---

154 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, तृतीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 99

155 आभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3/11

156 आभिज्ञानशाकुन्तलम्, 3/17

किञ्च हे करभोरु! जिसके द्वारा अशंकनीय प्रणयभंग की आशंका करती हो वह दुष्यन्त तुम्हारे समागम के लिए उत्सुक होकर तुम्हारे पास आया हुआ है। रत्न किसी को नहीं खोजता अपितु रत्न को ही लोग खोजा करते हैं। इस प्रकार स्त्री जिसे चाहती है वह भी उसे चाहने लगता है।

कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति।[157]

सुन्दरी किसके चित्त को कामातुर नहीं बना देती है। यानि सबके चित्त को कामातुर बना देती है।

वह सबके चित्त को राग युक्त कर देती है। पुरुष के अंदर स्वाभाविक रूप से स्त्री के प्रति आकर्षण होता है। वह उसके हाव–भाव से सहज ही आकर्षित हो जाता है। पुरुष के मन में विद्यमान विषयवासना स्त्री सानिध्य के कारण प्रस्फुटित हो जाती है। जैसा कि प्रबोंधचन्द्रोदय में लिखा गया है–

प्रभवति मनसि विवेको
विदुषामपि शास्त्रसम्भवस्तावत्।
निपतन्ति दृष्टिविशिद्या
यावन्नेन्दीवराक्षीणाम्।।[158]

शास्त्रों के द्वारा प्रदत्त विवेक विद्वानों के मन में तभी तक प्रभाव दिखलाता है। जब तक कमलनयनी के नेत्रवाणों का वह शिकार नहीं बनता। कहने का भाव यह है कि स्त्री बहुत ही सहजता से पुरुष के चित्त का हरण कर सकती है।

किं हि बुद्धिमत्प्रयुक्तं नाभ्युपैति शोभाम्।[159]

उपहारवर्मा का कार्य सिद्धि से प्रसन्न होकर राजवाहन कहता है कि बुद्धिमान के द्वारा किया गया कौन उपाय शोभित नहीं होता है?

यानि बुद्धिमान व्यक्ति जो भी करता है उसमें सफलता ही प्राप्त करता है। हितोपदेश में कहा गया है–

---

157 काव्यादर्श, 1/84

158 प्रवोधचन्द्रोदयम्, 1/11

159 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, तृतीयोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 111

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपिनयातिविक्रियाम्।।[160]

भली–भांति पका हुआ भोजन, बुद्धिमान पुत्र, शिक्षित स्त्री, अच्छी तरह से सेवित राजा सोचकर कही हुई बात और विचार कर किया हुआ काम, ये सब कभी बिगड़ते नहीं हैं। सदैव शोभित होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो सब कार्य को बहुत ही सूझ–बूझ के साथ करता है। प्रत्येक कार्य के पीछे लाभ–हानि का विचार करके बुद्धिमान पुरुष उसे करते हैं और उस कार्य के द्वारा वे प्रशंसित होते हैं। इस प्रकार सभी लोगों के द्वारा विचार करके ही कार्य किया जाना चाहिए–

कर्मायत्तं फलं पुंसा बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथाऽपि सुधिया भात्यं सुविचार्यैव कुर्वता।।[161]

यद्यपि मनुष्य को सुख–दुःख की प्राप्त कर्म के अधीन है और बुद्धि भी कर्म के अनुसार ही चलती है, फिर भी बुद्धिमान को विचारपूर्वक कार्य करना चाहिए। बुद्धि ही मनुष्य के जीवन को श्रेयष्कारी बनाती है। इसीलिए 'पंचतन्त्र' में कहा गया है–

वरं बुद्धि सा विद्या विद्याय बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीनां विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारका।।[162]

बुद्धि श्रेष्ठ है, विद्या नहीं। विद्या से बढ़कर बुद्धि है। बुद्धिहीन नष्ट हो जाते हैं, जैसे सिंह। इसीलिए हमारे संस्कृति में बुद्धिमान की हर जगह प्रशंसा की गयी है।

कामो नाम सङ्कल्पः[163]

निश्चय ही इच्छा वही है जो संकल्प का रूप धारण करती है।

---

160 हितोपदेश, मित्र लाभ, 22

161 नीतिशतकम्, 89

162 पंचतन्त्र, 5/36

163 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्टोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 202

मनुष्य के अन्दर संकल्प वृत्ति का स्थायित्त्व ही काम है। यहाँ काम का सीधा अर्थ कामना है। हमारी कामना जब तक संकल्प रूप धारण नहीं कर लेती तब तक वह सही अर्थ में कामना नहीं होती है। हमारी इच्छाएं तो अनन्त हैं लेकिन उन अनन्त इच्छाओं में से कुछ ही इच्छाओं पर हमारी संकल्पवृत्ति बन पाती है। जो संकल्प वृत्ति बनती है वही काम है। काम ही पुरुष का वास्तविक स्वरूप माना जाता है इसीलिए 'वृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है'

काममय एवायं पुरुषः[164]

यह पुरुष इच्छाओं का बना है।

चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्थ्या अपि प्रियाः स्युः।[165]

मनोभाव का अनुसरण करने वाले अवाञ्छनीय व्यक्ति भी प्रिय हो सकते हैं।

यदि अप्रिय व्यक्ति भी किसी के मनोकूल आचरण करने लगता है तो वह उसका प्रिय बन जाता है। यदि कोई राजा किसी सेवक से नाराज रहता है तो भी सेवक को राजा के मनोनुकूल आचरण करना चाहिए। यह सिद्धांत है कि सेवा और समर्पण ऐसी वस्तु है जो विरोधी को भी मित्र बना देती है। मनुष्य का किसी से लाख विरोध भले हो लेकिन निरन्तर यदि उसके अनुकूल आचरण करे तो वह प्रिय हो जाता है। अच्छे व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार करने पर वह प्रसन्न होता है और बुरे व्यक्ति के साथ उसके अनुकूल व्यवहार करने पर वह आनन्दित होता है। इसलिए कवि के द्वारा कहा गया है कि मनोभाव का अनुसरण करने वाले अवाञ्छनीय व्यक्ति भी प्रिय हो जाते हैं।

जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुः पञ्चाप्यहानि।[166]

अर्थात प्राणियों की जिन्दगी ही चार–पांच दिन की है।

कहने का अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य जीवन बहुत ही अल्प समय के लिए मिला हुआ है। इसके विषय में कभी भी घमण्ड नहीं करना चाहिए। वस्तुतः मनुष्य इस क्षण भंगुर संसार में रहता हुआ जीवन की

---

164 वृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/6

165 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 253

166 वही, पृ. 251

वस्तु स्थिति नहीं समझ पाता है। इस परिवर्तनशील संसार में कोई भी अजर–अमर नहीं है। मनुष्य एक निश्चित समय के लिए यहाँ पर आया है अतः उसे उस निश्चित समय में ही कुछ शाश्वत कार्य करने हैं जिससे उसकी यशः कीर्ति अजर और अमर बन सके। मनुष्य जीवन की नश्वरता के विषय में 'हितोपदेश' में कहा गया है–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
अद्य वाऽब्दशतान्तो वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।।[167]

अर्थात् इस संसार में जन्मे हुए प्राणी की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म भी निश्चित है और आज या सौ वर्ष के बाद भी प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। आगे भी कहा गया है–

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणों न लक्ष्यते।
आमकुम्भइवाऽम्मःस्थो विशीर्णःसन्विभाव्यते।।[168]

यह शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता है परन्तु जल में रखे हुए कच्चे घड़े के समान गल जाने पर ही दिखाई देता है। कहने का भाव यह है कि जब पूरी तरह से मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है तब लोगों को पता चलता है जबकि वस्तुस्थिति यह होती है कि हर क्षण मनुष्य मृत्यु के समीप जा रहा है। अतः यह जीवन बहुत ही कम समय के लिए मिला हुआ है और कर्त्तव्य कर्म बहुत अधिक है। इसलिए कवि ने कहा है कि यह जीवन तो चार–पांच दिन का ही है।

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम्।[169]

कोई नामिका परदेश जाते हुए अपने पति से कहती है जीते रहने की मेरी इच्छा प्रबल है तथा धन पाने की इच्छा दुर्बल है।

एक स्त्री के लिए पति का प्रेम ही सब कुछ होता है। वह अपने प्रेम के सम्मुख धन को बहुत ही तुच्छ समझती है। धन तो आता–जाता है, लेकिन यह मनुष्य जीवन बहुत अमूल्य है। यह जीवन चौरासी लाख योनियों के जीवन को भोगने के बाद मिला है, इसलिए मनुष्य जीवन श्रेष्ठ माना जाता है। मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य आत्मलाभ करना भी

---

167 हितोपदेश, सन्धि, 70

168 वही, 72

169 काव्यादर्श, 2/139

धर्मशास्त्रों में बताया गया है, इस दृष्टि से भी मानव जीवन का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। महाकवि दण्डी का यह कथन इस दृष्टि से और महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कुछ लोग धन को ही अत्यधिक महत्त्व देते हैं, जीवन को नहीं। आज आतंकवाद को पनाह देने वाले लोग कुछ लोगों को धन देकर उनके जीवन से अन्य लोगों के जीवन का संहार करा रहे हैं, यह उचित नहीं है। आतंकवादी धन को महत्त्व देते हैं और अपना जीवन को संकट में डाल लेते हैं, जिसे किसी भी देश, या काल में उचित नहीं ठहराया जा सकता है। मनुष्य का जीवन अमूल्य एवं श्रेष्ठ है, धन नहीं। अतः नायिका भी अपने पति के जीवन को चाहती है। ध्न को नहीं।

दुष्करसाधनं प्रज्ञा।[170]

कलहकण्टक अपनी बुद्धि द्वारा नितम्बवती को अपने बस में कर लेता है तो इसी सन्दर्भ में कहा बुद्धि के द्वारा दुष्कर कार्य सिद्ध किया जाता है।

बुद्धि मानव जीव़न की ऐसी क्षमता है जिसके द्वारा कठिन से कठिन कार्य को बहुत ही सहजता से सिद्ध कर लिया जाता है। बुद्धि ही मनुष्य की गुरु है। इसलिए बुद्धि को विद्या से श्रेष्ठ कहा गया है–

वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा[171]

बुद्धि श्रेष्ठ है विद्या नहीं, विद्या से बुद्धि बढ़कर है। बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। जिस प्रकार गुरु अपने शिष्य को कठिन परिस्थितियों से निकलने का मार्ग सुझाता है, उसी प्रकार बुद्धि भी मनुष्य को कठिनाई में उसकी सहायता करती है और कार्य–सिद्धि का मार्ग सुझाती है।

दौर्भाग्यं नाम जीवन्मरणमेवाङ्गनानाम्[172]

निश्चय ही पति का विमुख होना दुर्भाग्य नारियों के लिए जीते जी मौत है। कुलीन स्त्री का पति ही सर्वस्व होता है। वह पति को भगवान स्वरूप में पूजती हैं। वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है–

---

170 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 182

171 पंचतन्त्र, 5/36

172 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 197

भर्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणादपि[173]

नारी के लिए पति ही सर्वोत्तम अलंकार है। यदि वह विमुख हो जाय तो स्त्री श्रीहीन हो जाती है। वह पति के बिना मृतप्राय हो जाती है क्योंकि वहीं ही आशा का सम्बल और एकान्त का मित्र होता है। उसके बिना एक स्त्री का संसार सूना हो जाता है। इसीलिए कवि दण्डी लिखते हैं कि निश्चय ही पति का मुह फेर लेना नारियों के लिए जीती–जागती मौत है।

न च निषेधनीया गरीयसां गिरः[174]

राजा जयसिंह से मंत्रगुप्त कहता है कि पूज्य जनों के वचनों का निषेध नहीं किया जा सकता है। पूज्य जन सदैव कल्याण के लिए ही उपदेश दिया करते हैं, उनके कल्याणमय वचनों का जो लोग निषेध करते हैं वे सदैव अकल्याण को प्राप्त करते हैं, अतः श्रेष्ठ पुरुषों के वचनों का अनन्य–मन से पालन करना चाहिए। 'हितोपदेश' में भी कहा गया है कि–

वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।[175]

आपत्ति के समय में वृद्धजनों के वचनों को मानना चाहिए। वृद्ध जन अपने अनुभव के आधार पर आपत्तिकाल में उचित उपदेश देते हैं। उनके उपदेश का अनुसरण आपत्तिकाल का निराकरण करने में समर्थ होता है। वृद्धजनों के उपदेश की अवहेलना कभी भी नहीं करनी चाहिए, जैसा कि गुरूपदेश के सम्बन्ध में महाकविवाणभट्ट भी लिखते हैं–

गुरुपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमल प्रक्षालनक्षमम् जलं स्नानम्[176]

जिस प्रकार जल से स्नान करने पर शरीर के समस्त विकार धुल जाते हैं, उसी प्रकार गुरु का उपदेश मनुष्य के वाह्याभ्यन्तर समस्त दोषों को दूर कर देता है, इसीलिए गुरूपदेश को बिना जल का स्नान कहा गया है। गुरु, ऋषि के उपदेश सदैव मनुष्य का कल्याण ही करते हैं। उनके द्वारा जो आज्ञा दी जाती है उसमें परम कल्याण समाहित रहता है। ऋषि वाणी की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए महाकवि भवभूति लिखते हैं–

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।

173 वाल्मीकीय रामायण, सुन्दरकाण्ड 16/26

174 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, सप्तमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 233

175 हितोपदेश, मित्र लाभ, 23

176 कादम्बरी, शुकनासोपदेश

ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।।[177]

लौकिक सज्जनों की वाणी तो अर्थ का अनुसरण करती है परन्तु प्राचीन ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ स्वयं चलता है। कहने का भाव यह है कि जो उनके द्वारा आदेशित किया जाता है, उसमें मनुष्य का परम कल्याण निहित हुआ करता है। अतः जो श्रेष्ठ जनों के वचनों को नहीं मानता है, उसका परम दुर्भाग्य है। सत्पुरुष स्वाभावतः जगत् का हित करते हैं, अतः उनके उपदेश की अवहेलना कदापि उचित नहीं है–

सत्पुरुषः खलु हिताचरणैरमानन्द
यत्यखिल लोकमनुक्त एव,
आराधितः कथय केन करैरुदारे
रिन्दुर्विकासयति केरविणीकुलानि।।[178]

सज्जन व्यक्ति बिना कहे ही कल्याणजनक आचरणों के द्वारा सम्पूर्ण संसार को प्रचुर आनन्द देता है भला किससे पूजित होकर चन्द्रमा अपनी उदार किरणों से कुमुदिनियों को विकसित करता है? अर्थात् किसी से नहीं, वह स्वभावतः लोक कल्याण में लगा रहता है। उसका किसी प्रकार का स्वार्थ भी नहीं होता है, इसलिए साधुपुरुष की आज्ञा यदि कठोर हो तो भी पालनीय है। ऐसा कहा जाता है कि गुरु के द्वारा कठोरतापूर्ण व्यवहार ही लोक में प्रसिद्धि का कारण बनता है–

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षरभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशोणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति।।[179]

गुरुजनों के कठोर वाणी से तिरस्कृत हुआ मनुष्य लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त करता है क्योंकि बिना सान पर कसा गया रत्न भी राजाओं के मुकुट में स्थान नहीं प्राप्त करता है। अतः यह निश्चित है कि हमारे जीवन में गुरूपदेश का महत्त्व अत्यन्त व्यापक है, किसी भी अवस्था में श्रेष्ठ जनों का आदेश अलङ्घनीय हैं।

---

177 उत्तररामचरितम्, 1/10

178 भामिनीविलास, 74

179 भामिनीविलास, 72

न चान्यदस्ति पापिष्ठं तत्र दौर्वल्यात्[180]

विश्रुत राज्यशक्ति को समृद्ध करने के उद्देश्य से कहता है कि दुर्बलता से बढ़कर परम पापी दूसरी वस्तु नहीं है।

दुर्बलता चाहे वह किसी प्रकार की हो वह मानसिक हो या शारीरिक दोनों प्रकार की दुर्बलता मनुष्य जीवन के लिए घातक है। उसमें भी मानसिक दुर्बलता तो मनुष्य को जड़ बना देती है। उसके अन्दर कुछ करने का साहस ही नहीं होता है। इसलिए मनुष्य जीवन में मानसिक साहस की अत्यन्त आवश्यकता होती है। यथा 'कथासरित्सागर' में कहा गया है–

प्राप्यते किं यशः शुभ्रमनङ्गीकृत्य साहसम्[181]

साहसी बने बिना शुभ यश क्या प्राप्त होता है? अर्थात् नहीं, साहस के बिना मनुष्य लोक में यशस्वी नहीं हो सकता है। साहसी ही धनवान होता है क्योंकि कहा गया है– '**साहसे श्रीप्रतिवसति**'[182] इसलिए मनुष्य के अन्दर साहस का गुण होना आवश्यक है, इसी प्रकार शरीर की निरोगता भी आवश्यक है, जिसके लिए कहा गया है–

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्[183]

स्वस्थ शरीर के ही द्वारा सभी कार्य किये जाते हैं। सामाजिक सुख समृद्धि के लिए शारीरिक निरोगता एवं अनामयता अनिवार्य है। दुर्बल मनुष्य अपने जीवन में कुछ भी प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। उसका जीवन दूसरों पर आश्रित ही रहता है। इसीलिए कवि के द्वारा कहा गया है कि दुर्बलता से बढ़कर परम पापी दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराधनाय[184]

मंत्री वसुरक्षित विश्रुत से अपने राजा के विषय में बताते हुए कहता है कि अपमानित हुए राजा की आज्ञा का प्रजापालन के लिए कोई मूल्य नहीं होता है।

---

180 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 284

181 कथासरित्सागर, 5/2/225

182 मृच्छकटिकम्, 4/5 श्लोक के अनन्तर

183 कुमारसम्भवम्, 5/33

184 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 415

कहने का भाव यह है कि सम्मानित राजा का ही प्रजा में आदर रहता है अपमानित राजा की प्रजा कोई आज्ञा नहीं मानती है, इसलिए राजा को प्रजा के मध्य में अपना सम्मान बचाना चाहिए। उसे किसी भी प्रकार का अनैतिक कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे उसकी कीर्ति कलंकित हो। राजा को भगवान का स्वरूप माना जाता है। वही शासक है तथा उसे ही चारो आश्रमों का नियामक भी कहा गया है–

स राजा पुरुषो दण्डः से नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूःस्मृतः।।[185]

वही राजा है, वही पुरुष है, वही नेता है, वही शासक है जो चारों आश्रमों के धर्म के विचलन का निरोधक है। यदि वही अपना कर्त्तव्य पालन छोड़ देगा तो प्रजा उसका सम्मान कैसे करेगी? राजा का राजत्व प्रजापालन में ही विराजता है। प्रजा का सुख–दुःख राजा का सुख–दुःख माना जाता है। इस भाव से प्रजा का पालन करने वाला राजा ही प्रजा के द्वारा पूजित होता है अन्यथा वह अनादर का ही पात्र बनता है।

नहि विवेकः क्षुभितस्य।[186]

भूखे मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है।

भूख ऐसी चीज है जो मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि को नष्ट कर देती है। उसके अन्दर उचित–अनुचित का बोध नहीं रह जाता है। वह अपनी श्रुधा तृप्ति के लिए कोई भी कार्य करने के लिये तैयार हो जाता है। 'हितोपदेश' में उदाहरण सहित इसके सम्बन्ध में कहा गया है–

त्यजेत्क्षुधाऽऽर्त्ता महिला स्वपुत्रं
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम।
वुभुक्षितः किं न करोति पापं
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।।[187]

भूखी स्त्री अपने पुत्र का भी त्याग कर देती है भूखी सर्पिणी अपने अण्डों को भी खा जाती है, भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता है

185 मनुस्मृति, 7/17
186 अवन्तिसुन्दरीकथा, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 27
187 हितोपदेश, सन्धि 60

क्योंकि दुःखी व क्षीण मनुष्य निर्दयी हो जाता है। स्त्री को उसका पुत्र बहुत प्रिय होता है, लेकिन भूख के कारण अपने पुत्र का त्याग कर देती है और सर्पिणी स्वयं अपने अण्डे का ही भक्षण कर जाती है, यही भूख का वीभत्स रूप है, इसीलिए कवि दण्डी लिखते हैं कि भूखे मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है।

न हि मुनिरिव नरपतिरूपशमरति रभिभवितुमरिकुलमलम्[188]

विहारभद्र राजा अनन्तवर्मा का समझाते हुए कहता है कि निश्चय ही राजा मुनि की भांति शान्ति से अनुराग कर शत्रुओं को दबाने और समाज का प्रबन्धन करने में समर्थ नहीं होता है।

राजा राज्य का भाग्य विधाता होता है। वह प्रजा के सुख–शान्ति के लिए उपक्रम का प्रयोक्ता भी होता है। राजा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए 'मनुस्मृति' में कहा गया है–

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर विजयश च पराक्रमे।
मृत्युश् च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः।।[189]

जिसकी प्रसन्नता में कमलपुष्प तुल्य मनोहर लक्ष्मी रहती है, जिसके पराक्रम में विजय रहता है, जिसके क्रोध में मृत्यु रहता है। अतः वह राजा सभी देवताओं के तेजों से युक्त है। राजा सामान्य नहीं विशेष प्रकार का प्राणी होता है। उसके आचरण और व्यवहार सन्त जैसा नहीं एक कुशल प्रशासक के समान होता है। वह राज्य में शान्ति दया द्वारा नहीं बल्कि शासन द्वारा स्थापित करता है। राजा के शान्ति प्रियता का विरोध करते हुए महाकवि भारवि कहते हैं–

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।[190]

---

188 दशकुमारचरितम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास, मो.ला.व.दा., पृ. 259

189 मनुस्मृति, 7/11

190 किरातार्जुनियम्, 1/42

हे राजन्! शान्ति की नीति का परित्याग कर शत्रुओं के वध के लिए उस तेज को पुनः धारण कीजिए, प्रसन्न होइये। निष्काम मुनिजन कामक्रोधादि को जीतकर शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। राजागण शान्ति नीति द्वारा विजय नहीं प्राप्त करते हैं। कहने का भाव यह है कि शान्ति का मार्ग सन्यासी के लिए होता है राजा के लिए नहीं। उसके लिए तो दण्ड और युद्ध का मार्ग ही श्रेयष्कर है क्योंकि 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में कहा गया है–

यो दण्डयान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत्।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः।।[191]

जो राजा दण्डनीय को विधिपूर्वक दण्ड देता है तथा मारने योग्य लोगों को मारता है, उसने दक्षिणा युक्त यज्ञों का अनुष्ठान कर दिया अर्थात् जो दक्षिणा सहित यज्ञों का फल प्राप्त होता है वही फल ऐसे राजा को मिलता है।

न्यायर्जितं तु देवब्राह्मणेभ्यस्त्याज्यम्[192]

अर्थात् न्याय संगत से जो उपलब्ध हो उसे देवता और ब्राह्मणों के लिए खर्च करना चाहिए। दान एवं धर्म की परम्परा जनमानस में बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। लोग दान एवं धर्म कार्य में रुचि बहुत लेते हैं और उसमें अपने धन इत्यादि का खर्च भी पूर्ण मनोयोग से करते हैं। कवि का यहाँ कहना है कि दान एवं पूजा में न्यायोचित ढंग से प्राप्त किये गये धन को ही लगाना चाहिए। 'महाभारत' में भी कहा गया है–

अन्यायात् समुपात्तेन दानधर्मो धनेनयः।
क्रियते न स कर्त्तारं त्रायते महतो भयात्।।[193]

दान–धर्म, अन्याय से प्राप्त किये हुए धन से किया जाता है तो वह कर्त्ता को महाभय से नहीं बचाता है। इसलिए दान–धर्म एवं ब्राह्मणों की सेवा में ऐसे धन को लगाये जो पूर्णतः न्यायमार्ग से अर्जित हो।

---

191 याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, 359

192 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास्, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 169

193 महाभारत, वनपर्व, 259/33

पठन्तश्चापठद्‌भिरतिसंधीयमाना बहवः[194]

विहारभद्र शास्त्रों और विद्वानों का विरोध करते हुए राजा अनन्तवर्मा से कहता है कि बहुतेरे अध्ययनशील लोग अनपढ़ के द्वारा ठगे गये हैं।

अध्ययनशील और अनपढ़ से यहाँ तात्पर्य है कि ऐसे अध्ययनशील जो केवल शास्त्रगत विषयों का ही चिन्तन एवं मनन करते हैं, लोक व्यवहार से अपरचित ऐसे लोग लोक व्यवहार से पूर्ण परिचित व्यक्ति के द्वारा पराजित हो जाया करते हैं। कहा जाता है जहाँ शास्त्र नहीं चलता है वहाँ लोक चलता है, जो चीजें शास्त्र में नहीं मिलती उसे लोक में ढूढ़ी जाती है। इसीलिए वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं– **''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।''**[195] अतः लोक का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। यहाँ अनपढ़ शब्द लोक सम्मत नियमों से अवगत पुरुष के लिए प्रयुक्त है। शास्त्र ज्ञान सीमित है जबकि लोक का ज्ञान असीमित। इसलिए शास्त्रज्ञानि लोकज्ञानि से ठगा जाता है। लोक के आचरण व्यवहार से ही शास्त्र बनता है। शास्त्र से लोक नहीं बनता है बल्कि लोक से शास्त्र बनता है।

पतिरेव दैवतं वनितानाम्[196]

पति ही स्त्रियों का देवता होता है।

हमारी भारतीय संस्कृति में अपने पति को स्त्री भगवान मानती हैं। पति की सेवा करना और उनका सब प्रकार से कल्याण की कामना करना ही एक स्त्री का पूनीत कर्त्तव्य माना जाता है। इस सन्दर्भ में वाल्मीकीयरामायण में भी उल्लेख किया गया है। जब जनकनन्दिनी सीता का श्रीराम के द्वारा परित्याग कर दिया जाता है, तब वे लक्ष्मण से श्रीराम के लिए अपने सन्देश में विनय और भक्ति भाव ही प्रेषित करती हैं–

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्वन्धुः पतिर्गरु[197]

194 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, अष्टमोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 250

195 अग्रवाल वासुदेवशरण, लोक संस्कृति विशेषांक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1953, पृ. 67

196 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास्, मो.ला.व.दास, पृ. 199

197 वाल्मीकीयरामायण, उत्तरकाण्ड, 48 / 17

नारी के लिए पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गुरु है। यानि महर्षि के कहने का अभिप्राय यही है कि स्त्री का सब, कुछ पति ही है। यहाँ तक भूत, वर्तमान और भविष्य भी पति ही रहता है। वही उसके आशा का सम्बल और निराशा का मोचन है। वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में ही कहा गया है कि नारी के लिए पति सर्वोच्च अलंकार है–

भर्तानाम परं नार्याः शोभनं भूषणादपि।[198]

पति के रहने पर ही एक स्त्री की प्रसन्नता है और उसके न रहने पर समाज से दुःख, क्लेश, अपमान और शोषण ही प्राप्त होता है। अतः पति एक ऐसा आभूषण है जो सौन्दर्य वृद्धि के साथ–साथ उसके सम्पूर्ण सुखों का पोषक होता है। महाकवि दण्डी इन्हीं विशेष सन्दर्भों के कारण पति को स्त्रियों का देवता मानते हैं। **'या ददाति सा देवता'** अर्थात् जो सदैव देता है वहीं देवता है। पति अपनी पत्नी को सदैव सुख–शान्ति ही प्रदान करता है। इसलिए उसे स्त्री का देवता माना गया है।

यावज्जीवितेन निक्षेपरक्षणम्[199]

जब तक जीवित रहे धरोहर की रक्षा करनी चाहिए।

धरोहर की रक्षा करना विश्वास की सीमा है। यद्यपि उसका रक्षण करना कठिन माना जाता है। जैसा कि 'स्वप्नवासवदत्तम' में कहा गया है–

सुखमर्थो भवेद दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः।
सुखमन्यद भवेत सर्वं दुःखंन्यासस्य रक्षणम्।।[200]

धन सुखपूर्वक दिया जा सकता है, प्राणों का दान सुखपूर्वक दिया जा सकता है, तप का फल सुखपूर्वक दिया जा सकता है तथा दूसरे प्रत्येक वस्तु सुखपूर्वक दी जा सकती है, लेकिन धरोहर का रक्षण करना दुःखदाई होता है। धरोहर के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में बताया गया है। यहाँ पर धरोहर को उपनिधि संज्ञा से विभूषित करते हुए कहा गया है–

198 वही, सुन्दरकाण्ड, 16/26

199 अवन्तिसुन्दरीकथा, अ.श.वि.वि., 1954, पृ. 50

200 स्वप्नवासवदत्तम, 1/10

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत्।।[201]

किसी पेटी या बर्तन में बन्द बिना गिनती की हुई कोई वस्तु रखने के लिए यदि किसी के हाथ सौंप दी जाती है तो उसे उपनिधि कहते हैं। उक्त वस्तु को उसी तरह वापस कर देनी चाहिए। वस्तुतः किसी कारण ावश दूसरे किसी विश्वास–पात्र के घर में यदि कोई कुछ समय के लिए अपनी निधि को सुरक्षा की दृष्टि से रख देता है, तो उसे निक्षेप कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है– निक्षेप और उपनिधि। निक्षेप में तो द्रव्य या हिरण्यादि सम्पूर्ण वस्तु की देख–भाल कर व गिनकर रखी जाती है। परन्तु उपनिधि में वस्तु किसी पेटी या बर्तन में शीलबन्द रहती है। अतएव द्रव्यादि वस्तु अविज्ञान तथा असंख्यात ही इसमें रहती है। जिसके घर में यह स्थापित की जाती है उसे चाहिए कि वह पुनः उसी तरह मुद्राङ्कित वस्तु लौटा दें। लेकिन कुछ काल ऐसे भी होते हैं, जिसमें निक्षेप लौटाना अनिवार्य नहीं होता है–

न दाप्योऽपहृतं तं तु राजदैविकतस्करैः[202]

वह उपनिधि यदि दैवीप्रकोप, बाढ़, भूकम्प आदि से अथवा राष्ट्रविप्लव से या चोरों के द्वारा नष्ट हो जाय, इसके साथ–साथ ग्रहीता का धन भी नष्ट हो गया हो तो ऐसी छल–कपट रहित स्थिति के कारण राजा को धन लौटाने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, यदि उपनिधि वापस मांगने पर नहीं लौटाई जाती है तो उसके लिए भी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में निर्देश किया गया है–

भ्रेषश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम्।[203]

उपनिधि के स्वामी की आवश्यकता पर या मांगने पर भी यदि कुनीयति के कारण उपनिधि चोर या और किसी कारण से नष्ट भी हो जाती है तो वह धन स्वामी को देना चाहिए। साथ ही साथ उतना दण्ड राजा को भी वसूल करना चाहिए। यदि उपनिधि रखने वाला उन वस्तुओं का उपयोग करता है तो इस सम्बन्ध में भी लिखा गया है–

---

201 याज्ञवल्क्यस्मति व्यवहाराध्याय, 65

202 वही, 66

203 याज्ञवल्क्यस्मृति, व्यवहाराध्याय, 66

आजीवन्स्वेच्छयादण्ड्योदाप्यस्तंचापिसोदयम्।[204]

उपनिधि के स्वामी की आज्ञा के बिना ही जो ग्रहीता उक्त योग्य उपनिधि का व्यवहार करता है या उससे कोई लाभ उठाता है तो उसे चाहिए कि ब्याज सहित उपनिधि के स्वामी को धन दें और राजा इससे उसके लाभानुसार दण्ड–रूप में धन ले। यदि किसी कारण के बहाने उपनिधि की उपेक्षा कर देता है तो भी उतना ही धन लौटाना पड़ता है। अन्त में अनेक प्रकार से याचित इत्यादि वस्तुओं के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यस्मृतिकार उपनिधि के समान ही व्यवहार मानते हैं–

याचितान्वाहितन्यासनिक्षेपादिष्वयं विधिः[205]

याचित, अन्वाहित, न्यास व निक्षेप में भी पूर्वोक्त उपनिधि का विधान ही मान्य होगा।

स्वदेशो देशान्तरमिति नेयं गणना विदग्धस्य पुरुषस्य।[206]

उदारक को अपहार वर्मा समझाते हुए कहता है कि यह अपना देश है यह परदेश है ऐसा विचार चतुर व्यक्ति नहीं करते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति क्षेत्र सीमा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार समझता है। उसके हृदय में प्राणी मात्र के लिए शुभाशंसा ही रहती है। इसीलिए हितोपदेश में कहा गया है–

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[207]

यह मेरा है, यह दूसरा है, ऐसा विचार छोटे लोग करते हैं। महान् लोगों के लिए तो सम्पूर्ण संसार अपना ही कुटुम्ब है। उनके लिए सम्पूर्ण विश्व एक है, वे सदैव सम्पूर्ण विश्व के हर्ष–विषाद् का ध्यान रखते हैं और यथोचित समाधान के लिए प्रयत्न भी करते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति सम्पूर्ण जगत् को अपना परिवार इसलिए मानता है क्योंकि उसे परमसत्ता का बोध होता है कि सभी प्राणी उसी विराट पुरुष की ही सन्ताने हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी जड–चेतन उसी से अभिव्याप्त है–

204 वही, 67

205 वही, 67

206 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, द्वितीयोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 42

207 हितोपदेश, मित्रलाभ, 74

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।[208]

श्रीमद्भागवद्गीता में भी भगवान स्वयं कहते हैं कि वे ही सभी भूतों की उत्पत्ति के मूल कारण हैं और चराचर जगत् का एक अंश भी ऐसा नहीं है जिसमें वे व्याप्त न हों–

सच्चापि सर्वभूतानां वीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।[209]

अतः सृष्टि का प्रत्येक कण उन्हीं परब्रह्म से निःसृत हुआ है। फिर इस संसार में भेद कैसा? ऐसा जिसके अन्दर बोध हो जाता है, वे किसी को छोटा–बड़ा नहीं बल्कि मानव मात्र को ईश्वर का सन्तान एवं सम्पूर्ण विश्व को अपना कुटुम्ब मानते हैं।

स्वर्गविजयैषिणो विपरीतमेव शोभते ।[210]

स्वर्ग विजय की कामना करने वाले प्रतिकूल परिस्थिति में भी धैर्य नहीं छोड़ते हैं।

इनके मन में सदैव अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रबल प्रेरणा होती है जिसके लिए वे अथक प्रयत्न भी करते हैं। जिसके मन में कुछ प्राप्त करने की दृढ़ इच्छा शक्ति रहती है, उसके सम्मुख विषम परिस्थिति होने पर भी वह अपने धैर्य को नहीं छोड़ता है। प्रतिकूलता उसके मार्ग की बाधक नहीं बनती, बल्कि प्रतिकूलता उसे और उद्यमी, साहसी ही बनाती है क्योंकि जितना मनुष्य का व्यक्तित्व विपरीत परिस्थिति में निखरता है, उतना अनुकूल स्थिति में नहीं। यदि श्रीराम वन में नहीं जाते तो क्या जो चरित्र और आदर्श आज उनका स्थापित है कभी स्थापित हो पाता? निश्चित रूप से राम के जीवन का वह चौदह वर्ष ही विशेष है जिसके लिए उन्हें इतिहास याद करता है। इसलिये जो लोग यशस्वी होना चाहते हैं वे कभी भी कठिनाई की ओर ध्यान न दें। अपने लक्ष्य की ओर दृढ़प्रतिज्ञ होकर संलग्न रहे। 'नीतिशतक' में भी कहा गया है–

क्वचित् पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः।
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।।

---

208 ईशावास्योपनि÷ाद् 1

209 श्रीमद्भागवद्गीता, 10/39

210 अवन्तिसुन्दरी कथा, अ.रा.वि.वि., 1954, पृ. 60

क्वचितकन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।।[211]

कार्य सिद्धि का इच्छुक मनस्वी व्यक्ति कही भूमि पर शयन करने वाला होता है और कहीं पलंग पर भी सोता है। कहीं शाकाहार करता है तो कही पर चावल के भात का स्वाद लेता है, कहीं चिथड़ा पहनता है तो कही रेशमी वस्त्र धारण करता है। वह न तो दुःख को गिनता है और न सुख को। केवल वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्राण–प्रण से प्रयत्न करता है। कार्यार्थी मनस्वी व्यक्ति एकाग्रमनसा लक्ष्य प्राप्ति की ही ओर उन्मुख रहता है। उसे जीवन में प्राप्त होने वाले दुःखों की कोई चिन्ता नहीं होती है। उसके मार्ग में आने वाली बाधाएं कभी विचलित नहीं करती हैं और न ही प्राप्त होने वाले सुख ही अपनी ओर आकर्षित कर पाता है। उसकी गति किसी प्रकार से रुकती नहीं है। इसीलिए आगे भी नीतिकार लिखते हैं–

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।[212]

नीति में निपुण व्यक्ति की निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी आयें अथवा मनचाहे स्थान पर चली जायें या युग समाप्ति पर हो, परन्तु धैर्यशाली जन न्याय पथ से एक कदम भी विचलित नहीं होते हैं। वे अपने कर्त्तव्य पालन पथ पर एकाग्रचित्त होकर चलते रहते हैं। उनके मन में संकट की चिन्ता नहीं होती, उनकी दृष्टि में एक लक्ष्य रहता है– कार्यसिद्धि।

स्त्री हृदयं क्रूरम्[213]

ब्रह्मराक्षस के प्रश्न का उत्तर देते हुए मित्रगुप्त कहता है कि स्त्री का हृदय निर्दय होता है।

---

211 नीतिशतकम्, 82

212 नीतिशतकम्, 84

213 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, षष्ठोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 186

ऐसे भी प्रसंग हमारे लोक में विद्यमान हैं, जहाँ स्त्री के हृदय में भी निर्दयता देखी जाती है। सामान्यतया एक स्त्री ममता एवं स्नेह का स्वरूप ही अपने हृदय में रखती है। वह सदैव अपने पति–पुत्र, परिवार का प्राण–प्रण से पालन करती है, लेकिन महाकवि दण्डी धूमिनी की कथा के द्वारा स्त्री के हृदय को क्रूर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। त्रिगर्त नगर में भयंकर अकाल पड़ा था। यहाँ का निवासी धन्यक था, जो अपनी पत्नी से बहुत प्रेम करता था। उस नगर में लोग अपने परिवार के बच्चों एवं स्त्रियों को खाना प्रारम्भ कर दिये थे। इस कारण धन्यक अपनी पत्नी को लेकर दूसरे राज्य के लिए प्रस्थान करता है। रास्ते में अपने पत्नी की क्षुधा को अपने रक्त–मांस से शान्त करता है। उसे रास्ते में एक पंगु व्यक्ति मिलता है। उसको भी अपने साथ ले लेता है, इस प्रकार तीनों जंगल में एक ही साथ रहने लगते हैं। धन्यक के उपचार से उस पङ्गु के स्वास्थ्य में सुधार हो जाता है। एक दिन शिकार पर गया हुआ धन्यक के न रहने पर उसकी पत्नी धूमिनी पङ्गु के साथ बलात् रमण करती है। धन्यक जब लौटता है तो अपनी पत्नी से पानी मांगता है, जिस पर वह शिरोवेदन का बहना कर, पानी स्वयं धन्यक को ही कुएं से निकालने के लिए कहती है। कुएँ से पानी निकालते समय धन्यक को कुएं में ढकेल कर वह पङ्गु को लेकर राजदरबार में पहुंचती हैं और पतिव्रता का नाटक कर राजमहल में राजकीय की सेवा कार्य में नियुक्त हो जाती है। इसी सन्दर्भ में महाकवि दण्डी स्त्री को क्रूर कहे हैं। वैसे भी 'मृच्छकटिक' में भी स्त्री के लिए कहा गया है–

अपण्डितास्ते पुरुष मता से ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि।।[214]

वे मनुष्य मुझे मूर्ख लगते हैं जो स्त्रियों और धन पर विश्वास करते हैं। सम्पत्ति तथा स्त्रियाँ सर्पकन्याओं के समान कुटिल गमन करती हैं। इस प्रकार साहित्य में अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जो स्त्री के सम्बन्ध में अपना इस प्रकार का मत रखते हैं। ऐसे वर्णनों का उद्देश्य स्त्री–जाति का विरोध नहीं बल्कि कुछ स्थलों पर उनसे सावधान होने के लिए दिये जाते हैं।

---

214 मृच्छकटिकम्, 4/2

स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम्[215]

स्त्रियाँ तिकड़म की खान होती हैं। कवि का अभिप्राय स्त्री की वाक्पटुता से है। वे एक बात को सिद्ध करने के लिए कभी–कभी आश्चर्यजनक उदाहरण प्रस्तुत कर अपने द्वारा दिये गये तथ्यों को सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। जैसा कि अभिज्ञानशाकुन्तल में दुश्यन्त भी शकुन्तला को तत्काल समुचित उत्तर की कल्पना करने वाली कहा है–

इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति[216]

यही स्त्रियों का प्रत्युत्पन्नमतित्त्व है। यानि स्त्रियाँ अपने अनुसार उत्तरगढ़ लेती हैं, सत्य का उद्घाटन नहीं करती है। प्रो. अभिराजेन्द्रमिश्र जी भी लिखते हैं–

''यन्महिलामुखात्सत्यं ज्ञातुं न शक्यते। यतो हि उपाख्यानकातरेयं जातिः। द्राविडप्राणायामं बिना किञ्चिद्वक्तुं न क्षमा। भवान् तिलमात्रं प्रक्ष्यति, सा तालपरिमितं वक्ष्यति महिलया सार्धं महिलैव व्यवहर्तुं शक्नोति, न पुरुषः''[217]

महिला के मुंह से सत्य नहीं जाना जा सकता है क्योंकि यह जाति की प्रमाण–उदाहरण झोंकने में विवश होती है। बिना द्राविड प्राणायाम् के कुछ भी सीधे बता पाने में समर्थ नहीं होती है। आप तिल भर पूछोगे तो वह ताड़ के बराबर बतायेंगी। महिला के साथ बतियाने में महिला ही समर्थ होती है, पुरुष नहीं। इसी अर्थ में महाकवि दण्डी भी उन्हें तिकड़म की खान कहे हैं।

हि लोके पण्डिता अपि दाक्षिण्येनाकार्यं कुर्वन्ति[218]

शाप के कारण राजवाहन के पैर में पड़े जंजीर के संबंध में कवि दण्डी लिखते है कि पण्डित लोग संसार में कभी–कभी सहजतावश अनुचित कार्य कर बैठते हैं।

---

215 दशकुमाचरित्रम्, उत्तरपीठिका, तृतीयोच्छ्वास्, मो.ला.व.दा., पृ. 82

216 अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5/21 पर गद्यांश

217 इक्षुगंधा, अनामिका, बैजयन्त–प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 63

218 दशकुमाचरित्रम्, पूर्वपीठिका, पञ्चमोच्छ्वास्, चौ.अ.भा.प्र., पृ. 92

सांसारिक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हुआ करता है, उससे भी गलती हो जाया करती है। कहने का भाव है जो शास्त्र का सम्यक्तया अध्ययन कर लिए होते हैं उनसे गलती कम होने की सम्भावना रहती है। उस शास्त्र ज्ञाता व्यक्ति की समाज में इसी रूप में प्रतिष्ठा व्याप्त रहा करती है, परन्तु दुर्योगवश उस शास्त्र ज्ञाता पण्डित से भी अनुचित कार्य हो जाता है।

काव्यशास्त्रीयसूक्ति

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सर्वविद्या का प्रतिपादक ग्रन्थ है। सभी विद्याओं का उद्भव एवं विकास वेदों से ही माना जाता है, फलस्वरूप सभी विद्याओं के मूल तत्त्वों की खोज वेदों में ही की जाती है। इसी महनीय दृष्टि से काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण वेदों में किया जाता है और इसी महनीय परम्परा में वेद को देव का अमर काव्य भी कहा जाता है– **'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**।[219] इस वैदिक वचन में देव–काव्य के रूप में वेद का निर्देश किया गया है और वेद के निर्माता ब्रह्मा को अनेक स्थलों पर कवि कहा गया है–**"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"**[220] अर्थात् वह ब्रह्म कवि सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप, सर्वोपरि, विद्यमान एवं सर्व–नियन्ता, स्वेच्छा से प्रकट होने वाला है और अनादि काल से सब प्राणियों के कर्मानुसार यथायोग्य भोग्य सम्पूर्ण पदार्थों की रचना करते आये हैं। इसी सन्दर्भ में वेद को प्रथम काव्य एवं ब्रह्मा को प्रथम कवि माना जाता है। जहाँ तक शास्त्र का प्रश्न है तो ग्यारहवीं शताब्दी सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजदेव ने मुख्य रूप से इस शास्त्र के लिए काव्यशास्त्र पद का प्रयोग किया है–

यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।
काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।।[221]

विधि या निषेध का ज्ञान कराने वाले अर्थात् शासन करने वाला शास्त्र है। उसका अध्ययन करना चाहिए क्योंकि उसी से लोक–व्यवहार

219 अथर्ववेद, 10/8/32

220 ईशावास्योपनिषद, 8

221 सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/138–139

का सञ्चालन होता है। काव्य, शास्त्र और इतिहास को मिलाकर ये क्रमशः काव्यशास्त्र, काव्येतिहास और शास्त्रेतिहास बन जाते हैं। इस प्रकार कुल छः हो जाते हैं। आचार्य भोजदेव ने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास इन तीनों को विधि–प्रतिषेध का ज्ञान कराने वाला माना है। इसी आधार पर आचार्य मम्मट काव्य के प्रयोजनों में से **'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'**[222] को विधि–प्रतिषेध को काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र परम्परा सामान्यतः आचार्य भरत से लेकर आज तक के आचार्य राधावल्लभत्रिपाठी, आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी, आचार्य अभिराजेन्द्रमिश्र आदि के काव्यशास्त्र सरिता में निर्वाध रूप से अक्षुण्ण है। इस परम्परा में आचार्य दण्डी का भी महनीय स्थान है। वे इस परम्परा में उस युग का प्रतिनिधित्त्व करते हैं जिस युग में काव्यशास्त्र के कतिपय सिद्धान्त अपना निश्चित स्वरूप निर्धारित कर चुके थे और कुछ अपने अस्तित्व को निश्चित करने के लिए प्रयत्नशील थे। ऐसे नवसर्जनात्मक युग को कृतार्थ कर आचार्य दण्डी ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित काव्य–सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं और पुनः उन्हें काव्य स्वरूप में ग्रहण करते हैं। जिसे वे स्वयं स्वीकार भी करते हैं–

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।
यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्।।[223]

प्राचीन भरतादि आचार्यों के काव्यशास्त्र–ग्रन्थों का संक्षेप करके तथा प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों का निरूपण करके मैं यथाशक्ति काव्य–लक्षण प्रतिपादक ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इस प्रकार आचार्य दण्डी काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग की परम्परा को आगे बढ़ाया और निश्चित एवं दृढ़ आधारशिला स्थापित किया। जिस पर स्थित होकर काव्यशास्त्र अपना सम्पूर्ण विश्व मे स्थान सुनिश्चित किया। इस विशिष्ट योगदान के कारण ही आचार्यदण्डी संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य–परम्परा में महनीय स्थान के अधिकारी हैं। इनके द्वारा प्रणीत काव्यादर्श ज्ञात–अज्ञात आचार्यों की परम्परा को आगे बढ़ाता है और प्रथमतः योजनाबद्ध रूप में काव्यशास्त्रीय

---

222 काव्यप्रकाश, 1/2

223 काव्यादर्श, 1/2

सिद्धांतों का प्रतिपादन भी करता है। उनका काव्यादर्श सही अर्थों में काव्य का आदर्श (दर्पण) है, जिसमें काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त व्यापक रूप से प्रतिबिम्बित हुएँ हैं। आचार्य दण्डी के काव्य सिद्धांत इतने सहज एवं सरल सूक्त्यात्मक रूप में निबद्ध हैं कि उनकी पृथक वृत्ति लिखने की आवश्यकता नहीं हुई। फलस्वरूप काव्यादर्श में केवल काव्यसिद्धान्त और उदाहरण ही दिये गये हैं, जिसके आधार पर पाठक काव्यधर्मों को सहज ही जान लेता है। इनके बहुत से काव्य सिद्धान्त सूक्त्यात्मक रूप में हैं, जिनकी विशेष रूप से व्याख्या करना काव्यशास्त्र के धर्मों की ही व्याख्या करना है। इसलिए यहाँ उनकी उदाहरण सहित एवं तुलनात्मक दृष्टि के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गयी है–

अपादः पदसंतानो गद्यम्[224]

पादों से रहित पद समूह को गद्य कहते हैं।

इस प्रकार गद्य पाद रहित रचना बन्ध का नाम है। गणमात्रानियत पद्यतुरीय भाग को पाद कहा जाता है, उससे रहित पद–सुबन्त–तिड़न्त समुदाय को गद्य कहते हैं। कहने का भाव यह है कि जिस सुबन्त–तिड़न्त पद समुदाय में गणमात्रा नियत पाद नहीं हैं उसी को गद्य कहते हैं। मानव अपने कार्य–व्यवहार के लिए सामान्यतः जिस जुबान का उपयोग करता है वह प्रायः गद्यमय ही रहा करती है। गद्य काव्य की एक मात्र असाधारण विशेषता यही है, जहाँ लेखक अपनी लेखनी को छन्द की (पादयुक्त) अर्गलाओं से सर्वदा मुक्त रखता है। वह छन्द की जटिलताओं के परित्याग कर अपनी प्रतिभा का खुलकर प्रयोग करता है। अग्निपुराण में गद्य के विषय में दण्डी के समान ही कहा गया है– **अपादः पदसन्तानो गद्यं तदपि गद्यते।**[225] आचार्य विश्वनाथ अपने लक्षण ग्रन्थ अर्थात् पद (चरण) रहित पद समूह गद्य कहलाता है। ''साहित्यदर्पण'' में लिखते हैं– **वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्**[226] अर्थात् जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती वह गद्य है। गद्य काव्य में भी पद्य काव्य के समान वाक्यों की मधुरता, सुन्दरता, चमत्कारिता, सहजता, सरसता, रमणीयता और इष्टार्थता का होना अति आवश्यक है, इसलिए गद्य लेखक गद्य की महनीयता का ध्यान रखते हुए

224 काव्यादर्श, 1/23

225 अग्निपुराण, 337/9

226 साहित्यदर्पण, 6/330

अपनी काव्य सर्जना को आगे बढ़ता है। गद्य की महनीयता के कारण ही आचार्य वामन लिखते हैं– **गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।**[227] अर्थात् गद्य कवियों के कवित्त्व की कसौटी है। यहां कहने का अभिप्राय है कि पद्य में तो कवि उसके गेयता के कारण कुछ दोष छिपा सकता है लेकिन गद्य में छन्द का कवच नही रहता है उसका दोष सद्यः प्रकाशित हो जाता है। इसलिए गद्य लेखक को विशेष रूप से सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति।।[228]

राजाओं का यशरूपी बिम्ब वाङ्मय रूपी दर्पण को प्राप्त करके आज उन राजाओं का अस्तित्त्व न होने पर भी विनाश को प्राप्त नहीं हो रहा है। आचार्य दण्डी की यह उक्ति काव्य प्रायोजन के रूप में ग्रहण की जाती है। इस प्रकार दण्डी के मत में काव्य का प्रयोजन यश है, क्योंकि यश का कभी नाश नहीं होता है। इसी अर्थ में आचार्य लिखते हैं कि जो राजागण कालक्रमानुसार इहलोक–लीला समाप्त कर परलोकवासी हो गये हैं, उनका यशरूप बिम्ब वाड्मय रूप दर्पण को प्राप्त कर प्रतिबिम्बात्मना भासमान हुआ करता है, कभी नष्ट नहीं होने पाता है। लौकिक बिम्ब प्रतिबिम्ब का भाव–यावत्कालपर्यन्त बिम्ब सम्मुखावास्थित रहता है तब तक ही वह दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होता है बिम्बापाय हो जांने पर प्रतिबिम्ब का भी अपाय हो जाता है किन्तु शब्द रूपी दर्पण में एक बार जिसका चरित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है वह शाश्वत हो जाता है। कभी समाप्त नहीं होता है, इसी प्रकार आचार्य मम्मट भी काव्य प्रयोजन के रूप में **काव्यं यशसे**[229] की बात करते हैं और भामह भी **प्रीतिं च साधुकाव्यनिवेषणम्**[230] की बात करते हैं। यश शाश्वत धर्म है। इसका विनाश नहीं होता है। इसीलिए इस काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया जाता है।

---

227 काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 1/3/21वी कारिका की वृत्ति
228 काव्यादर्श, 1/5
229 काव्यप्रकाश, 1/2
230 काव्यालङ्कार

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वमं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[231]

यदि शब्द रूप ज्योति समस्त संसार में प्रदीप्त न हो तो यह सम्पूर्ण त्रिभुवन अज्ञान के सघन अन्धकार में लीन हो जाय। इस शब्द ज्योति से ही सम्पूर्ण लोक प्रकाशित है, इसके बिना सम्पूर्ण लोक अन्धकारमय है।

जिस प्रकार अन्धकार में व्यवहार की असाध्यता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सभी प्रकार के व्यवहार शब्द के अभाव में लुप्त प्राय हो जाते हैं। इस शब्द नामक ज्योति का महत्त्व है, जिससे सम्पूर्ण लोक स्वरूप प्रकाशित है। शब्द की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते।।[232]

जिस प्रकार ज्ञान में ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञेय विषय रूप दोनों की प्रतीति होती है। उसी प्रकार शब्द में अर्थरूप वस्तुस्वरूप तथा वर्णानुपूर्वी शब्द स्वरूप भी प्रकाशित होते हैं। यहाँ आत्मा अन्तःकरण वृत्ति ज्ञान का बोधक है। जिस प्रकार ज्ञान में ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञेय विषयस्वरूप एक ही वृत्ति से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार बोध विषय शब्द में वर्णानुपूर्वी शब्द स्वरूप तथा अर्थभूत वस्तुस्वरूप एक साथ ही प्रकाशित होते हैं।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्[233]

समासों का प्रचुर प्रयोग ओज गुण है, यह गद्य रचना का प्राण है।

ओज गुण के कारण गद्य का गद्यात्म प्रकाशित होता है। फलतः इस गुण के सम्बन्ध में गौड़–वैदर्भ सम्प्रदाय में संगति है। दोनों सम्प्रदाय में इसको समान रूप से महत्त्व दिया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि वैदर्भ लोग ओज गुण को गद्य तत्त्व का प्राण मानते हैं, जबकि गौड़ सम्प्रदाय के लोग गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार की रचना के लिए इसे समान रूप से अवलम्बन मानते हैं। समास शब्दगत वस्तु है अतः यह ओज शब्द

231 काव्यादर्श, 1/4
232 वाक्यपदीयम्, 1/50
233 काव्यादर्श 1/80

गुण है, ऐसा दण्डी का अभिमत प्रतीत होता है क्योंकि कारिका में उन्होंने समास भूयस्त्वम् ओजः यह लक्षण दिया है। आचार्य मम्मट ओज के विषय में काव्यप्रकाश में लिखते हैं–

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।[234]

चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्त्व का जनक ओजगुण कहलाता है और यह सामान्यतः वीर रस में रहता है। यानि कहने का भाव है कि दीप्ति चित्त की विशेष प्रकार की वृत्ति है, जिससे मन प्रज्ज्वलित सा हो जाता है, चित्त का विस्तार सा हो जाया करता है। यह दीप्ति चित्त–द्रुति से भिन्न प्रकार की एक चित्त की अवस्था है जो प्रतिकूल विषयों के प्रति हुआ करती है। इस दीप्ति का जनक जो रस का धर्म है वह ओज गुण कहलाता है। वस्तुतः गुण रस के धर्म माने जाते हैं शब्दार्थ में उनकी स्थिति तो गौण रूप से मानी जाती है–

गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता[235]

माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं तथा मधुर शब्द हैं, मधुर अर्थ हैं ऐसा विद्वानों में व्यवहार देखा जाता है। आचार्य मम्मट ने भी शब्दार्थो सगुणौ इस काव्य–लक्षण में कहे हैं। कारण यह है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदिगुणों का शरीर में भी गौण रूप से व्यवहार होता है उसी प्रकार माधुर्य आदि यद्यपि रस के धर्म है तथापि गुण व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों के अर्थों को तथा रचनाओं को भी गौण रूप से मधुर कह दिया जाया करता है। शब्द और अर्थ आदि में माधुर्य आदि का व्यवहार औपचारिक है। गुण तो रस का धर्म है और वह उसी में नियत रूप से विद्यमान रहता है–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।[236]

जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के धर्म है उसी प्रकार जो काव्य में प्रधानतया स्थित रस के धर्म हैं तथा रस के साथ नियत स्थिति वाले

234 काव्यप्रकाश, 8/69

235 वही, 8/71

236 वही, 8/66

हैं, ऐसे रसोत्कर्ष वाले को गुण कहते हैं। अतः गुण नियत रूप से रस में ही रहा करते हैं।

कथाहि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च वध्यते[237]

कथा ऐसी रचना धर्मिता है जो संस्कृत तथा संस्कृत से भिन्न सभी भाषाओं में निबद्ध की जाती है।

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार महाकाव्य की भाषा नियमतः संस्कृत होती है स्कन्दक की भाषा प्राकृत, ओसर की भाषा अपभ्रंश होती है। अतः पद्य काव्यों की भाषा निश्चित होती है। लेकिन गद्य काव्य–कथा की भाषा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है, कथा संस्कृत भाषा में तथा अन्याय भाषाओं में समान रूप से लिखी जाती है। उदाहरणार्थ बृहत्कथा, यह कृति आज अनुपलब्ध है परन्तु इस कृति के तीन रूपान्तर ग्रन्थ आज संस्कृत में उपलब्ध हैं। वे हैं– वधुस्वामि का वृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' और सोमदेव की कथासरितसागर।

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि न दुष्यति[238]

कवि द्वारा किसी विशेष अभिप्राय से निबद्ध चिह्न अन्य काव्य भेदों में भी दोष का कारण नहीं बनता।

कहा जाता है कि जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि। कवि द्वारा जो भी काव्य–धर्म का प्रयोग किया जाता है, वह सदैव काव्य की विशेषता के रूप में ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः संस्कृत महाकाव्यों में ऐसे विशिष्ट चिन्ह प्रायः मिलते हैं, जो उनकी विशेषता के रूप में समादृत हैं। उन्हें दोष रूप में परिगणित नहीं किया जाता है। यथा किरातार्जुनीय महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में लक्ष्मी शब्द, शिशुपालवध महाकाव्य के सर्गों के अन्त में भी वही शब्द एवं नैषधीयचरित के सर्गन्त में आनन्द शब्द मिलता है। दूसरी ओर आख्यायिका आदि गद्य भेदों के उपलब्ध उदाहरणों में ऐसे बन्ध चिह्न नहीं मिलते हैं। इस प्रकार के चिह्न तो पद्यप्रबन्ध महाकाव्य में ही दिखते हैं और उस महाकाव्य में दोष नहीं, बल्कि विशेषता को प्रकट करते हैं। कवि के द्वारा यह महाकाव्य जैसे प्रयोग कथा–आख्यायिका में भी किया जा सकता है, उसमें कुछ हानि नहीं है। क्योंकि कवि

237 काव्यादर्श, 1/38

238 वही, 1/30

द्वारा लगाया गया चिह्न दोष नहीं गुण रूप में समादृत होते हैं। महाकवि कालिदास द्वारा ठीक ही कहा गया है–

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्य विलोपि जातम्।

एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणोस्विाङ्कः।।[239]

अनगिनत रत्न उत्पन्न करने वाले उस हिमालय की शोभा हिम के कारण कुछ कम नहीं होती है क्योंकि जहाँ बहुत से गुण हो वहाँ यदि एक–आध दोष आ भी जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं चलता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका दोष भी गुण रूप शोभायमान होता है।

कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः[240]

लोक–व्यवहार की सीमा का अनुसरण करने वाले वर्णन सभी सहृदय जनों के लिए प्रिय होते हैं।

जिस ग्रन्थ में लोक–व्यवहार का वर्णन होता है वही सहृदय वर्ग में प्रशंसित होता है, क्यों जो शास्त्र लोक से नहीं जुड़ता वह सही अर्थ में शास्त्र होने का गौरव नहीं प्राप्त कर पाता है। लोक के ही आलोक में शास्त्रावगाहन किया जा सकता है, लोक को समझे बिना शास्त्र समझना कठिन है। इसीलिए वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं–लोक का अमृत निस्पन्द जिस शास्त्र में नहीं मिला वह कितना भी पण्डिताऊं हो निष्प्राण रहता है। जो ज्ञान लोकहित के लिए नहीं वह अधूरा है, वह मानवीय चिन्तन का झूठा फल है। जो शास्त्र लोक के साथ नहीं जुड़ा वह बुद्धि का छलावा है।[241] अतः हमारी परम्परा में लोक की मूल भावना के बिना समाज अपना पथ निर्धारित नहीं कर सकता। इसीलिए आचार्यदण्डी लोक सीमा का अनुसरण को सहृदय कान्त बतलाये हैं।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते[242]

काव्य सौन्दर्य के कारणभूत धर्मों को अलंकार कहते हैं।

---

239 कुमारसम्भवम्, 1/4

240 काव्यादर्श, 1/88

241 अग्रवाल वासुदेवशरण, लोक संस्कृति विशेषांक, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1953, पृ. 67

242 काव्यादर्श, 2/1

उनके अनुसार काव्य–सौन्दर्य के विधायक धर्म गुण हैं और उसके अतिशायक धर्म अलंकार हैं। आचार्यवामन गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करने के लिए गुण को काव्य– सौन्दर्य का हेतु माना है और अलंकार को काव्य सौन्दर्य की वृद्धि करने वाला धर्म माना है–

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।[243]

इनके मत के अनुसार अलंकार शब्द का अर्थ होगा कि काव्य का वह तत्त्व जिससे काव्य अलङ्कृत होता है अर्थात् जिससे काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि हो। इसीलिए वामन ने **"सौन्दर्यमलङ्कारः"**[244] की भी बात करते हैं, जिनका अभिप्राय कवि प्रतिभा से समुद्भूत सौन्दर्य ही व्यापक अर्थ में अलङ्कार है। वस्तुतः अलंकार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। दोनों ही अर्थ में अलंकार शब्द की अलग–अलग व्युत्पत्ति उपलब्ध है। भाव व्युत्पत्ति से अलङ्कार शब्द का अर्थ भूषण या शोभा है– **अलङ्कृतिरलंकारः**[245] उसी अर्थ में अलङ्कार सौन्दर्य से अभिन्न हैं। इसी अर्थ में वामन ने अलङ्कार को सौन्दर्य का पर्याय बताकर अलङ्कार युक्त काव्य की ग्राह्यता स्वीकार की है। इस अर्थ में कवि की समग्र उक्तियों का सौन्दर्य अलंकार है। काव्य के वे सभी तत्त्व जो काव्य में शोभा का आधान करते हैं, वे व्यापक अर्थ में उसके अंग हैं। गुण और अलंकार के सद्भाव से तथा दोष के अभाव से काव्य में सौन्दर्य आता है। आचार्य मम्मट अपने काव्यप्रकाश में काव्यालङ्कार के स्वरूप तथा काव्य में उसके स्थान का निरूपण करते हुए कहा है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[246]

जो काव्य में विद्यमान उसी अङ्गी रस को शब्दार्थ रूप अङ्ग के द्वारा कभी–कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रास और उपमा आदि हार आदि

---

243 काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 3/1/1–2
244 वही, 1/1/2
245 वही, 1/1/2, वृत्ति,
246 काव्यप्रकाश, 8/67

के समान अलंकार होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी अलङ्कार को शब्दार्थ का ही धर्म माना है–

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशोयिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।[247]

अलङ्कार शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा जाता है जो अङ्गद (बाजूवन्द) आदि अलंकारों की भांति शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और रस भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, आचार्य दण्डी ने व्यापक अर्थ में उसे काव्य–सौन्दर्य का हेतु कहा है। स्पष्टतः उनके उस अलंकार में काव्य–शोभा का आधान करने वाले गुण आदि धर्म भी सन्निहित है। दण्डी ने विशिष्ट अर्थ में उपमा आदि अलंकार को श्लेष, प्रसाद आदि दशगुणों से पृथक कर जहाँ दोनों का सापेक्ष महत्त्व निर्धारित करना चाहा है वहाँ अलंकार की अपेक्षा गुण पर ही उनका विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है।

किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु[248]

क्या नेत्रहीन व्यक्ति में रूप के (रंग के) विविध प्रकारों को पहचानने की शक्ति होती है? आचार्यदण्डी यहाँ काव्यशास्त्र के अधिकारी के विषय में उल्लिखित कर रहे हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति रूप के विविध भेदों का विभाग नहीं कर सकता, उसी प्रकार काव्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य मनुष्य भी काव्य के गुणों और दोषों को नहीं परख सकता है। अतः कवि, पाठक और आलोचक के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है, बिना शास्त्र के ज्ञान का वह सम्यक् प्रकार से काव्यधर्मों का अवगाहन नहीं कर सकता है। रंग के विविध प्रकार का विभाजन नेत्रवान ही कर सकता है, नेत्रहीन नहीं। उसी प्रकार काव्य के विविध धर्मों को जिसके पास काव्यशास्त्र रूपी नेत्र होगी वही समझ सकता है। मात्र शब्द और अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके काव्य के मर्म को नहीं समझ सकता है। उसके बोध के लिए हमें काव्यतत्त्व का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। जैसा कि आचार्य आनन्दवर्धन लिखते हैं–

---

247 साहित्यदर्पण, 10/1

248 काव्यादर्श 1/8

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।[249]

वह काव्यतत्त्व शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्र (कोशादि) के ज्ञान मात्र से प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्यमर्मज्ञों को ही विदित होता है। यह काव्यतत्त्व काव्यतत्त्वधारी नेत्र वाले को प्रतीत हुआ करता है। इससे शून्य व्यक्ति काव्य के क्षेत्र में अन्धे के समान ही व्यवहार करेगा। संक्षेपतः वह काव्य के गुणों–दोषों का विभाजन नहीं कर सकता है।

गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते[250]

गद्य–पद्य मिश्रित मिश्रकाव्य का एक विशिष्ट रूप चम्पू नाम से अभिहित किया जाता है।

चम्पूकाव्य की यह असाधारण विशेषता देखी जाती है कि उसके गद्य एवं पद्य दोनों में अतिशय चमत्कार छिटकता है, दोनों रूपों में उसकी रसपेशलता विद्यमान रहा करती है, जो सहृदय वर्ग को आह्लादित करती है। आचार्य विश्वनाथ भी अपने 'साहित्य–दर्पण' में चम्पूकाव्य की परिभाषा दिये हैं–

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते[251]

गद्य–पद्यात्मक काव्य प्रबन्ध– वह काव्य प्रकार जो गद्य–पद्यमय हुआ करता है उसे चम्पू कहा है। चम्पू के उदाहरण स्वरूप में देवराजचरित का नाम यहाँ उल्लिखित है। आचार्य विश्वनाथ गद्यपद्यमयी अन्य विधा के सम्बन्ध में भी साहित्यदर्पण में लिखे हैं, जैसे विरुद के सम्बन्ध में लिखते हैं–

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते।[252]

विरुद भी एक गद्य–पद्यमय काव्य प्रबन्ध है जिसमें राज–प्रशस्ति की जाया करती है। इसका उदाहरण विरुदमणिमाला बताया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य–पद्य मिश्रित रचना चम्पू और विरुद दोनों हैं।

---

249 ध्वन्यालोक, 1/7

250 काव्यादर्श 1/31

251 साहित्यदर्पण, 6/336

252 वही, 6–337 अर्धांशं

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः।।[253]

जन्मजात प्रतिभा, विशाल एवं परिशुद्ध अध्ययन और प्रगाढ अभ्यास समुदित रूप में काव्य सम्पत्ति के कारण होते हैं।

संस्कृत आचार्यों के द्वारा इसी प्रकार व्यापक रूप से काव्य हेतु पर विचार किया गया है। उनके चिन्तन से अनेक तत्त्व प्रकाशित होते हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उसी चिन्तन में एक चिन्तन काव्य हेतु भी है, जो काव्यशास्त्र की आधारशिला है उसके बिना काव्य धर्म उत्पन्न ही नहीं होता है। काव्य हेतु वह तत्त्व है जो कवि और सामान्य मनुष्य के अन्तर को परिभाषित करता है। जिनमें ये काव्य हेतु रहा करते हैं, वही कवि बन पाता है और उसका कर्म काव्य कहलाता है। इसी रूप में आचार्य दण्डी कहते हैं कि कवि पद प्राप्त करने वाले के अन्दर सर्वप्रथम नैसर्गिक रूप से (स्वाभाविक रूप से) प्रतिभा होती है। यह प्रतिभा जन्म–जात हुआ करती है, इसका काव्य निर्माण के प्रति अहम भूमिका होती है, इसीलिए इसे प्रथम स्थान पर रखा गया है। दूसरे स्थान पर विशाल एवं परिशुद्ध अध्ययन है। यह अध्ययन व्यापक रूप से होना चाहिए। नाना प्रकार के शास्त्र, कोश, कला इत्यादि का ज्ञान कवि के लिए नितान्त आवश्यक है क्योंकि प्रतिभा होने पर भी बिना शास्त्र ज्ञान के कवित्त्व चमत्कृत नहीं हो सकता है और जब तक कवित्त्व चमत्कृत नहीं होगा तब तक वह कवि पद पर अधिकारी भी नहीं बन सकेगा। इसीलिए द्वितीय स्थान पर व्यापक अध्ययन की बात कही गयी है। तीसरे स्थान पर अभ्यास आता है जिसके विषय में **'अभ्यासं बिना विषं विद्यां'** अर्थात् अभ्यास के बिना विद्या विष के समान हो जाती है। प्रतिभा और व्यापक अध्ययन होने पर भी जो निरन्तर काव्य मर्मों का अभ्यास नहीं करते हैं उनकी कविता में निखार आता ही नहीं है। इसीलिए आचार्य दण्डी समुहित रूप से इन तीनों को काव्य की सम्पत्ति मानते हैं। किसी एक के अभाव में काव्य रचना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार आचार्य मम्मट भी लिखते हैं–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[254]

253 काव्यादर्श 1/103
254 काव्यप्रकाश, 1/3

कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभा रूप शक्ति, लोक–व्यवहार, शास्त्र तथा काव्यादि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और काव्य की रचना शैली तथा आलोचना पद्धति को जानने वाले गुरू की शिक्षा के अनुसार काव्य–निर्माण का अभ्यास ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से उस काव्य के विकास–उद्भव के कारण हैं। इसी प्रकार चन्द्रालोककार जयदेव भी लिखते हैं–

प्रतिभैव श्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति।
हेतर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव।।[255]

अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी और जल से युक्त बीज समूह लता की उत्पत्ति का कारण होता है। उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान एवं काव्य निर्माण के अभ्यास के साथ जन्मजात प्रतिभा काव्य का हेतु है। अतः इन आचार्यों के मत में जन्म–जात प्रतिभा, शास्त्रज्ञान, और निरन्तर अभ्यास में तीनों समुदित रूप से (समष्टि रूप से), अलग–अलग नहीं, काव्य के कारण हैं।

मुखमिष्टार्थसंसिद्धयै किं हि न स्यात्कृतात्मनाम्।[256]

अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए बुद्धिमान (कवियों) द्वारा प्रयुक्त कौन सी वस्तु साधन रूप नहीं बन जाती है।

यानि सभी वस्तु साधन हो जाती है। बुद्धिमान मनुष्य अपने कार्य व्यापार को सम्यक रूपेण सम्पादित में सिद्धहस्त होता है उसके द्वारा जो भी प्रयोग धर्म अपनाये जाते हैं, वह लोक में समादृत होता है। काव्य धर्म के विषय में भी यही है कि कवि द्वारा जो भी काव्य प्रयोग धर्म अपनाये जाते हैं वे सब समाज में समादृत ही होते हैं। जैसे वेदादिशास्त्रों से मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान शिल्पशास्त्र से वस्तुनिर्माण की कुशलता एवं कलाशास्त्र से षड्जाति स्वरों का परिज्ञान होता है, यह सब मनुष्य के व्यवहार पक्ष को ही सबल बनाता हैं। इस प्रकार सभी व्यवहार शब्दाश्रित ही हैं। इसीलिए तो वाणी को ही भूषण कहा गया है–

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।

---

255 चन्द्रांलोक, 1/6

256 काव्यदर्श, 1/30

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृत धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि, सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।[257]

पुरुष को न तो वाजूबन्द ही भूषित करते हैं न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार, न स्नान, न चन्दनादि का लेपन, न फूल और न संवारे हुए बाल ही। केवल वाणी ही पुरुष को भलीभाँति भूषित करती है, जो व्याकरण आदि के द्वारा शुद्ध करके धारण किये जाते हैं। इसीलिए आचार्य दण्डी लिखते हैं कि सभी व्यवहार शब्द से ही चलायमान हुआ करते हैं। हमारे लौकिक व्यवहार एवं शास्त्रीय व्यवहार दोनों का नियामक शब्द ही है।

वाचमेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।[258]

शब्दों की सहायता से ही सर्वथा लोक व्यवहार चलता है।

शब्द अर्थात् वाणी ही वह तत्त्व है जिससे सम्पूर्ण मानव समाज का लोक–व्यवहार सम्पादित होता है–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।[259]

ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्दानुगम के बिना निष्पन्न हो सके। सभी ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध जैसे लोक में भासित होते हैं। इसीलिए तो आगे पुनः कहा जाता है–

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानाञ्चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते।।[260]

वाग्रुपता सभी विधाओं तथा सभी शिल्प–कलाओं की बोधिका है। शब्दस्वरूप के वशीभूत अभिव्यक्त सभी पदार्थ भिन्न प्रतीत होते हैं। कहने का भाव यह है कि मनुष्यों का सभी लौकिक एवं वैदिक व्यवहार विद्या–शिल्पकलादि से निबद्ध है। विद्या, कला आदि शब्दमय होने से व्यवहार भी शब्दमय एवं शब्दाधीन हैं। चारों वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार उपाङ्ग मिलकर चौदह विधाएं हैं। गृह निर्माण बोधक शिल्पशास्त्र एवं गीत–वाद्य आदि चौसठ कलाएं सभी शब्द स्वरूप

257 नीतिशतकम्, 19
258 काव्यदर्श, 1/3
259 वाक्यापदीयम्, 1/123
260 वही, 1/125

में ही निबद्ध हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे लोक के सभी व्यवहार एवं सभी शास्त्रीय ज्ञान शब्द के ही अधीन हैं। शब्द ही हमारे व्यवहार पक्ष को और ज्ञान पक्ष को प्रकाशित करता है।

शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली[261]

अभिलषित अर्थ से समन्वित पदावली काव्य का शरीर हे। आचार्य दण्डी यहाँ काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं वह शब्द समूह जो इष्ट अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ है वह काव्य है। आचार्यजी शब्द को काव्य मानने वाले हैं। साहित्य जगत् में सामान्यतः दो परम्परायें हैं– एक शब्दार्थो और दूसरी केवल शब्द वादी परम्परा, दण्डी अपने काव्य की परिभाषा में अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल देते हैं क्योंकि उनके अनुसार शब्द–समूह काव्य या काव्य–शरीर है। अर्थ की इष्टता उस शब्द समूह के काव्यत्त्व की शर्त मात्र है। यहाँ एक और तथ्य उद्घाटित होता है कि इष्टार्थता वहीं व्यक्त होती है जहाँ किसी प्रकार दोष नहीं बल्कि गुण, अलंकार, रीति आदि का सुन्दर सन्निवेश विद्यमान हो। काव्य का इष्टार्थ रस या आनन्द ही हुआ करता है। वह भी आनन्द जो लोकोत्तर हो, इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द के समान माना जाता है, वह सांसारिक आनन्द से ऊपर है। सांसारिक आनन्द तो लौकिक आनन्द है, जबकि काव्यानन्द लोकोत्तर। कहने का भाव है कि काव्य हमें अपने इष्टार्थ से लोकोत्तर आनन्द को प्रदान करता है। मैं ऐसा भी समझता हूँ कि जो आचार्य दण्डी के मत में इष्टार्थ है वहीं पं. राज जगन्नाथ के मत में रमणीयार्थ है। ऐसा मान लेने से ईष्टार्थ की व्याख्या रमणीयार्थ के समान करने पर दोनों आचार्यों में मतैक्य प्रकट होता है। पण्डित राज जगन्नाथ कहते हैं कि–

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[262]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला यानि जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध हो, वह शब्द काव्य है। यदि इसी को दण्डी की भाषा में कहा जाय तो इष्ट अर्थ से युक्त शब्द समूह काव्य है, कोई अन्तर नहीं है। अब पण्डितराज जगन्नाथ अपने रमणीयार्थ को किस प्रकार व्यक्त करते हैं, जिससे इष्टार्थ भी स्वयं व्यक्त हो जाता है। देखिये–

261 काव्यादर्श, 1/10

262 रसङ्गाधर की व्याख्या, 1/1

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता[263]

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है। लोकोत्तर क्या है? इसके विषय में कहते हैं–

लाकोत्तरत्त्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापर पर्यायोऽनुभव साक्षिकोजातिविशेषः।[264]

यह लोकोत्तरत्त्व जिसका दूसरा नाम है, सह्रदयों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है। कहने का भाव यह कि जिस–जिस आनन्द में सह्रदयों को लोकोत्तरः, लोकोत्तरः ऐसा अनुभव हो वही आनन्द लोकोत्तर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य दण्डी का भी अभिमत लगभग ऐसा ही है परन्तु जहाँ उनका इष्ट अर्थ केवल ह्रद्य अथवा विवक्षित अर्थ है वहाँ पं. राजजगन्नाथ का रमणीय अर्थ अलौकिक का हेतु है और रस सापेक्ष है। दूसरी ओर, दण्डी के काव्य परिभाषा में रस का स्पष्ट उल्लेख नहीं है काव्य की आत्मा का संकेत भी उसमें नहीं है। प्रकारान्तर से काव्य का इष्ट–अर्थ आनन्द (रस) दण्डी के काव्य लक्षण में घटित होता है। जो हमें पण्डित राज जगन्नाथ के रमणीयार्थ के समान ही लक्षित होता है। वस्तुतः शब्दवादी परम्परा का प्रारम्भ अग्निपुराण से मिलता है, सर्वप्रथम वही इस तत्त्व का अभिधान किया गया है–

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली[265]

संक्षेपतः अभिलषित अर्थ से युक्त पदावलीमय वाक्य काव्य है। आचार्य विश्वनाथ अपने साहित्य दर्पण में लिखते हैं–

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[266]

रसात्मक वाक्य काव्य होता है। आचार्य 'जयदेव' अपने 'चन्दालोक' में लिखते हैं–

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।।[267]

---

263 वही, 1/1 की व्याख्या

264 वही

265 अग्निपुराण, 337/6

266 साहित्यदर्पण, 1/3

267 चन्द्रालोक, 1/7

काव्य दोषों से रहित लक्षणों से युक्त रीतियों से समन्वित गुणों से विभूषित तथा अलंकारों, रसों एवं वृत्तियों से युक्त वाणी (शब्द) को काव्य कहा जाता है। इस प्रकार शब्दवादी काव्य लक्षण परम्परा काव्यलक्षण स्वरूप निरूपण में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जिसके आचार्य दण्डी अग्रदूत माने जाते हैं क्योंकि अग्निपुराणोक्त काव्य लक्षण विस्तार के बाद संक्षेपता की बात करता है, जबकि दण्डी इसे निचोड़ रूप में मानते हुए मूलतत्त्व के तह तक जाते हैं।

सर्गबन्धो महाकाव्यम्[268]

सर्गों में निबद्ध रचना को महाकाव्य कहते हैं।

साहित्य जगत् में पद्य काव्य के अनेक स्वरूप प्राप्त होते हैं लेकिन पद्यकाव्य के रूप में सबसे अधिक महत्ता महाकाव्य की होती है। इस तथ्य को 'आचार्य दण्डी' स्वयं स्वीकार करते हैं–

मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धाङ्गरुपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः।।[269]

मुक्तक, कुलक, कोष और संघात भेद सर्गबन्ध महाकाव्य के अङ्गमात्र हैं, इसलिए यहाँ इन पद्यस्वरूपों का विस्तार नहीं किया जा रहा है। महाकाव्य अङ्गी हैं जबकि मुक्तक, कुलक, कोष और संघात अंग हैं। इसलिए अङ्गी का ही विशेष महत्व रहा करता है। आचार्य विश्वनाथ में भी महाकाव्य के विषय में लिखते हैं–

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।[270]

इस सर्गबन्ध महाकाव्य में एक ही नायक का चरित्र–चित्रित किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य की प्रथम कसौटी सर्गबन्धता है।

''संस्कृतं ना दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः''[271]

महर्षियों द्वारा अनुशासित देवभाषा को संस्कृत कहते हैं।

---

268 काव्यादर्श, 1/14
269 वही, 1/13
270 साहित्यदर्पण, 6/315
271 काव्यादर्श, 1/33

संस्कृत वैदिक भाषा की व्यावहारिक रूप का परिष्कृत अथवा संस्कृत रूप है। वैदिक भाषा से सम्बन्धित होने के कारण ही संभवतः पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने अपने व्याकरण ग्रन्थों द्वारा इसे अनुशासित अथवा नियमबद्ध किया है। भाषा के रूप में संस्कृत का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीता जी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय? इसका विचार करते हुए हनुमान जी ने कहा है–

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मत्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।[272]

यदि मैं द्विज की भांति संस्कृत वाणी का प्रयोग करूगां तो सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जायेगीं। इस प्रकार यह वाल्मीकिरामायण से चली आने वाली परम्परा का अनुसरण है। क्योंकि लोक व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में इसका उदय वाल्मीकि युग की घटना है। इसका अनुमान हनुमान जी के पूर्वोक्त निर्देश से स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है।

272 वाल्मीकीयरामायण, सुन्दरकाण्ड, 30/18

परिशिष्ट

संस्कृत साहित्य में 'महाकविदण्डी' का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी लेखनी की विशेषता यह है कि वह सामाजिक मूल्यों को सूक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। कवि सूक्ति के माध्यम से बिना किसी राग–द्वेष के सामाजिक मूल्यों का प्रकाशित करते हुए जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करता है। स्त्री–पुरुष के सामाजिक परिवेश पर आश्रीत संस्कृति का उद्‌घाटन सूक्तियों के द्वारा ही सम्भव है। इन सूक्तियों के द्वारा कवि व्यावहारिक धरातल पर रहते हुए स्वर्ग के वैभव प्रस्तुत को करने का प्रयास करता है। सूक्तियाँ समाज की गहन सम्वेदना प्रस्तुत करती है और समस्याओं के समाधान की सूत्र भी देती हैं। उनका यह सूत्र शाश्वत रहता है। इनमें युगो–युगो की मानव चेतना तथा अनुभूतियाँ ही नहीं है, बल्कि तर्क, युक्तियां, निर्देश की गहन मीमांसा है एवं इन सबसे भी बढ़कर अटूट विश्वास और सहज निष्ठा है, जिससे हमारा पथ–प्रदर्शन होता है। इन सूक्तियों का हमारे दैनन्दिन जीवनचर्या से लगाव रहता है फलतः हम अपने जीवन की इन्हें निधि मान लेते हैं। इस प्रपञ्चात्मक संसार की समस्याओं को सुलझाने का सफल सुझाव इन सूक्तियों में विद्यमान है जो हमें सदैव संजीवनी की भांति चैतन्यता प्रदान करती हैं। ये सूक्तियाँ यह भी प्रमाणित करती हैं कि मानव–हृदय सभी देशों एवं सभी युगों में एक सा रहा है। उसका समान अनुभव मनुष्यों में समान विचार को जन्म देता है। हमारी वाणी का वैशिष्ट्य ही सूक्ति है। जब हमारी वाणी समानधर्मी होती है, तभी वह समान विचार को जन्म दे पाती है।

संस्कृत साहित्य सूक्तियों का अक्षय भण्डार है, इसमें पग–पग सूक्तियों के मूल्य–छिटकते हैं। ये ऐसे मूल्य हैं जिनका सहृदय अनुभव करता है और आलोचक व्याख्या करता है। सूक्ति ही काव्य है और काव्य ही सूक्ति है। कहने का भाव यह है कि सूक्ति और काव्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उसके बिना काव्यत्त्व का परिपाक नहीं होता है फलतः

कवि दण्डी अपनी तीनों कृतियों सूक्तियों का बहुतायत प्रयोग किये हैं। दशकुमारचरित एवं अवन्तीसुन्दरीकथा तो गद्य काव्य हैं। गद्य काव्य में बिना सूक्ति की रमणीयता आती ही नहीं है। साथ ही आचार्य के द्वारा लक्षण ग्रन्थ के क्लिष्टता को कम करने के लिए भी सूक्ति का ही प्रयोग किया है, फलस्वरूप काव्यादर्श भी सूक्तिरत्नों से युक्त है। इस प्रकार कवि दण्डी की तीनों रचनाएँ सूक्तिमय हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम अध्याय दण्डी की कृतियों में धर्म–शास्त्रीय सूक्तियों का प्रकाशन करता है। जो तत्युगीन सांस्कृतिक परिवेश को उजागर करता है। दण्डी की सूक्तियों में धर्म का महत्त्व स्थापित किया गया है तथा ईश्वरी सत्ता को सर्वोपरी सिद्ध किया गया है। साथ ही साथ कर्म की तुलना में भाग्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। कवि का मानना है कि जो भाग्य में लिखा होता है उसे बदला नहीं जा सकता है। इससे यह सूचित होता है कि तत्कालीन समाज भाग्यवादी समाज था। सब कुछ भाग्य के अधीन ही समझा जाता था। मणि–मन्त्र, शास्त्र, सत्पुरुष, ज्ञात–धर्म तत्त्वदर्शियों के महत्त्व की विद्यमानता से यह स्पष्ट होता है कि समाज में आडम्बर का वितान खड़ा था, लेकिन शास्त्र की ज्योति से उसे हटाने का प्रयास समाज में किया जाता था।

समाजशास्त्रीय सूक्तियों का उल्लेख द्वितीय अध्याय के रूप में किया गया है। उसके अन्तर्गत पुरुषार्थ, धन का महत्त्व, विद्याभ्यास, पति–पत्नी धर्म, गुरूपदेश, सन्तान, विचारपूर्वक कार्य, बुद्धिमान, बुद्धि, संकल्प, स्वदेश–परदेश आदि का महत्त्व दर्शाया गया है तथा अपण्डित, दरिद्रता, चरित्रहीनता, स्त्री–राग, परपतिगमन, अविश्वास, विपत्ति आदि के वर्णन से कवि एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहता है क्योंकि सामाजिक बुराई के रहने पर आदर्श समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। कवि समाज के गुण–दोषों को देखकर ही उसका चित्रण करता है। यह चित्रण ही 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस उक्ति को चरितार्थ करता है। सामाजिक बुराई का चित्रण साहित्य में सदैव इसी उद्देश्य से किया जाता है कि इनका तत्क्षण निराकरण हो जाय क्योंकि बुराई छिपाने से वह सदैव बढ़ती है, लेकिन जब उसका प्रकाशन हो जाता है तो वह वहीं रुक जाती है। इसके विपरीत अच्छाई के प्रकाशन से अच्छाई और पुष्पित एवं पल्वित हो जाती है, इसीलिए कवि समाज के गुण–दोष दोनों वर्णन

अपने साहित्य में करता है जिसके लिए सूक्तियाँ सशक्त माध्यम हैं। इनमें अच्छाई को आत्मसात करने की एवं बुराई की परित्याग करने की अपार शक्ति होती है। इनकी शक्ति से अनुप्राणित होकर मनुष्य अपनी जीवन–यात्रा को सुखमय बनाता है, सुखी जीवन संसार का लक्ष्य होता है। संसार में यदि मनुष्य सुखी होता है तो उसके लिए संसार स्वर्ग के समान ही है। लेकिन सुख भी नैतिक व्यवहार की ओर ही हमें उन्मुख करता है क्योंकि बिना नैतिकता का सुख संसार में आदर नहीं प्राप्त करता है। नैतिकता सदैव त्याग में ही बसती है। अतः त्यागपूर्ण जीवन ही सही अर्थ में सुख का खजाना है।

तृतीय अध्याय काव्यशास्त्रीय सूक्तियों पर आधारित है। काव्यशास्त्र अत्यन्त गूढ़ विषय माना जाता है लेकिन आचार्य दण्डी इन्हें सूक्ति का रूप प्रदान कर बहुत ही सहज बना दिये हैं। काव्य के कमनीय स्वरूप वर्णन सूक्ति रूप में आ जाने से उसके कमनीयता के सारतत्त्व का बोध गम्य भाव उपस्थित हो जाता है, यह बोधगम्य भाव ही आचार्यत्त्व की परीक्षा है क्योंकि आचार्य वही है जो सरलता से सैद्धान्तिक व्यवहार को सिखाता है। आचार्य दण्डी, शब्द, काव्य–लक्षण, काव्य–हेतु, गद्य–काव्य, गुण आदि का व्यापक रूप से अपने काव्यादर्श में प्रकाशन किये हैं। इनका सूक्ति रूप यह स्पष्ट करता है कि सूक्ति ही रचना संसार हैं वही काव्य की रत्न हैं। उसी की खोज सहृदय करता है। रत्न तो जौहरी के द्वारा परखा जाता है। इसी प्रकार काव्य रत्न सहृदय विद्वान द्वारा ही जाना जाता है। सहृदय ही काव्य के मर्मों को जानकर उसका उद्‌घाटन करता है। यह उनका उद्‌घाटन सूक्ति रूप में और सहज हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि दण्डी और आचार्य दण्डी का रूप सूक्तिकार दण्डी के रूप में प्रकाशित हुआ है, जिनका अनुभव संसार बहुत व्यापक एवं शाश्वत है। उनकी गम्भीरता बेजोड़ है, जो पूरी मर्म के साथ उपस्थित होती है और सहृदय के कोने–कोने को स्फुरित कर देती है। यही तो काव्य का वैशिष्ट्य होता है। कवि का एक शब्द पाठक के कोने–कोने पहुँच कर उसे रोमांचित इस रूप में कर दे कि वह वाग–वाग हो जाय, इस अन्तश्चमत्कार के लिए सूक्ति ही उपयुक्त साधन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

मूलग्रन्थ

- अग्निपुराण, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1998
- अथर्ववेद, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध–संस्थान, होशियारपुर, 1960
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2005
- अवन्तिसुन्दरी, अनन्तशयन विश्वविद्यालय, शूरनाड्कुञ्सन पिल्ल ए.ए. पौरस्त्य ग्रन्थ प्रकाशन कार्यालयाध्यक्ष, प्रथम संस्करण, 1954,
- अविमारक, भासनाटकचक्रम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2008
- इक्षुगंधा, प्रणेता अभिराजराजेन्द्र, मिश्र वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2010
- ईशावास्योपनिषद्, निर्मल प्रकाशन, फैजाबाद, नवीन संस्करण, 2010
- उत्तररामचरितम्, रामनारायण लाल विजय कुमार प्रकाशक, इलाहाबाद, संस्करण– 2011
- ऐतरेयब्राह्मण, आनन्द आश्रम, पूना, संस्करण–1930
- ऋग्वेद, चौखम्बा विद्या भवन, प्रथम संस्करण, 1991
- कठोपनिषद, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1977
- कथासरित्सागर, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1960
- काव्यादर्श, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973
- काव्यादर्श, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1984
- काव्यमीमांसा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2007
- काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संशोधित संस्करण, 2004
- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, 1994
- कादम्बरी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1977
- किरातार्जुनीयम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1986
- कुमारसम्भवम्, कृष्णदास एकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1997
- गौतम धर्मसूत्र, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
- चन्द्रालोक, निर्मल प्रकाशन, फैजाबाद, नवीन संस्करण, 2010
- तण्डुलप्रस्थीयम् प्रणेता राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1999
- ताण्ड्यब्राह्मण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1987
- दशकुमारचरितम्, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 2004
- दशकुमारचरितम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1972

- ध्वन्यालोक, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1998
- नीतिशतक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1998
- नैषधीयचरितम्, कृष्णदास अकादमी, प्रथम संस्करण, 2002
- पंत्रतन्त्र, कृष्णदास अकादमी, प्रथम संस्करण, 1993
- पूर्वमीमांसा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
- प्रबोधचन्द्रोदयम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1995
- भामिनीविलास, प्रकाशन केन्द्र लखनऊ, संस्करण--2012
- मनुस्मृति, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2010
- महाभारत, परिमल पब्लिकेशन, देलही, प्रथम संस्करण, 2001
- मेघदूत, साहित्य भण्डार, मेरठ, षष्ठ संस्करण, 1999
- मृच्छकटिकम्, साहित्य भण्डार, मरेठ, एकादश संस्करण, 2001
- याज्ञवल्क्यस्मृति, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संस्करण--2011
- याज्ञवल्क्यस्मृति, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2011
- योगसूत्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2012
- रघुवंश, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पंचम संस्करण, 1985
- रत्नावली, साहित्य भण्डार, मेरठ, संस्करण, 1986
- रसगङ्गाधर, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2008
- वाल्मीकीयरामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रण 43, सम्वत 2069
- वाक्यपदीयम्, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1997
- विष्णुपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, इक्तीसवाँ संस्करण, सम्वत् 2063
- वेणीसंहार, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2007
- विक्रमाङ्कदेवचरित्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
- वैशेषिकसूत्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
- वक्रोक्तिजीवितम्, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2001
- वृहदारणकोपनिषद्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, सं. 2025
- शिशुपालवधम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2003
- सम्पल्लवः, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2000
- सरस्वतीकण्ठाभरण, चौखम्बा (ओरियन्टालिया), पब्लिशर्स, वाराणसी, 2004
- साहित्यदर्पण, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2007
- स्वप्नबासवदत्तम्, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1989
- श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, 199वां संस्करण सम्वत 2069
- श्रीमद्भागवद्पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, 24वाँ संस्करण सम्वत 2062
- हितोपदेश, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2010

सहायक ग्रन्थ

- आर्या, किरण, वल्लभसूक्तिरत्नशतकम्, प्रगतिशील प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015

- उपाध्याय, रामजी, संस्कृत सूक्तिरत्नाकर, संस्कृत परिषद्, विश्वविद्यालय, सागर, द्वितीय संस्करण, 1962
- उपाध्याय, रामजी, सुभाषित–साहस्री, भारतीय संसकृति संस्थानम्, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2007
- उपाध्याय पं. वलदेव, सूक्ति–मञ्जरी, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1995
- कुमार, सञ्जय, दण्डिकालीन जन–जीवन, सपना अशोक प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2009
- कुमार, सञ्जय, शोध–प्रबन्ध–दण्डी की कृतियों में लोक–संस्कृति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2008
- गुप्ता, धर्मेन्द्र कुमार, सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्दिन्, मेहरचन्द्र लक्षमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1972
- गुप्ता, धर्मेन्द्र कुमार, ए क्रिटिकल स्टडी एण्ड हिज वर्क्स, मेहरचन्द्र लक्षमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1970
- गुप्त, सुधीर कुमार, दण्डी एक अध्ययन, अनुसंधानशाला आर–2, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुर–4, प्रथम संस्करण, 1969
- गुप्त रमाशंकर, सूक्तिसागर, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, षष्ठ संस्करण, 2012
- तिवारी काशीनाथ, आचार्य दण्डी की साहित्य साधना, नाग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
- पंकज एन.क्यू. दशकुमारचरित एकल्चरल स्टडी, कला प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2002
- पराशर, योगेश्वरदत्त शर्मा, आचार्यों दण्डीः, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 1995
- बाँट मोर टी.वी. एवं अनुवादक गोपालप्रधान, समाजशास्त्र समस्याओं और साहित्य का अध्ययन, शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण, 2004
- वर्मा, निलिमा, दण्डी की उपमा योजना, जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर, प्रथम संस्करण, 2005
- सिंह, मान, सुवधु एण्ड दण्डिन्, मेहरचन्द्र लछमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1979
- त्रिपाठी, जयशंकर, आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1968

शब्दकोश

- आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दीकोश, वाराणसी, 1954
- विलियम्समोनियर, संस्कृत इंग्लिश कोश, वाराणसी, दिल्ली, 1996
- हलायुधकोश, सं. जयशंकर जोगी, पब्लिकेशन ब्यूरो, लखनऊ
- शब्दकल्पद्रुम, नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2006

₹ 400.00

ISBN 978-93-85981-42-5

9 789385 981425

Satyam

सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस

एन-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली-110059

दूरभाष : 011-25358642, +91-9899665801

ई-मेल : satyampub_2006@yahoo.com